CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

श्रीश्री भक्ति रहस्य कणिका

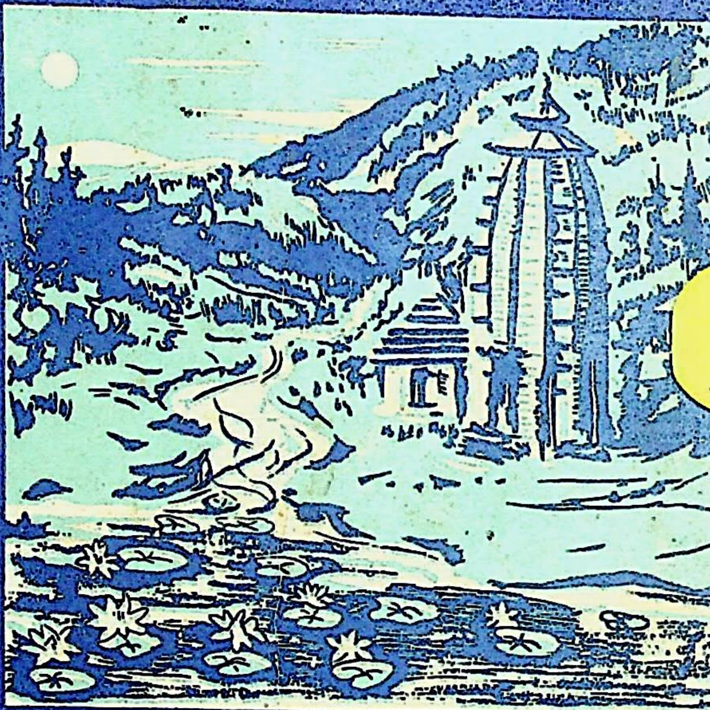

(हिन्दी अनुवाद)

श्रीमत् कानुप्रिय गोस्वामी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उ4/23

श्री श्री

भक्ति रहस्य-कणिका

(हिन्दी अनुवाद)

प्रथम खण्ड

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति –'

(काठके ।१।२।१५)

'वेदैः साङ्गपद-क्रमोपनिषदै—
गायन्ति यं सामगाः ।'

(भागवत ।१२।१३।१)

'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो —'

(गीता ।१५।१५)

'गौण-मुख्यवृत्ति कि अन्वय-व्यतिरेके ।
वेदेर प्रतिज्ञा केवल कहये कृष्ण के ।।

(चरितामृत ।२।२०।१२८)

श्रीचैतन्याब्द
४७६
(विक्रम संवत् २०२१)

श्रीमत् कानुप्रिय गोस्वामि–
प्रणीत

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

—प्रकाशक—

श्री गोकुलानन्द गोस्वामी

५/ए, वाराणसी घोष लेन,

कलकत्ता—६

[मूल ग्रन्थकार-कर्तृक सर्व स्वत्व संरक्षित]

मूल्य एक रुपया

पुस्तक मिलने का पता :—

(१) श्री रमानाथ गोस्वामी

५/ए, वाराणसी घोष लेन

पो० विडन स्ट्रीट

कलकत्ता—६

(२) श्री शचिनन्दन दास

भक्ति भवन

श्री शिव शंकर सहाय मार्ग

मुहल्ला—मसवानी

फतेहपुर

(उत्तर प्रदेश)

मुद्रक—गायत्री प्रेस ७१६ दारागंज, इलाहाबाद

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आम्नाय-ग्रन्थालय,
भरतनिधि, करौंदी
वाराणसी-5

समर्थन पत्र

(१)

हिन्दी अनुवाद

लेखक—महामहोपाध्याय डाक्टर श्रील गोपीनाथ कविराज, एम-ए, डि-लिट महोदय, वाराणसी।

आपका ग्रन्थ पढ़कर अत्यन्त प्रीति लाभ किया। भक्तितत्त्व के सम्बन्ध में सुसम्बद्ध विस्तारित आलोचनात्मक एक ग्रन्थ के निर्माण और प्रकाशन की प्रतीक्षा बहुत दिनों से भक्त समाज कर रहा था। जगत की वर्तमान परिस्थिति में उसका एकान्त अभाव अनुभूत होता था। श्री भगवान ने आपको निमित्त करके यह अभाव दूर कर दिया।.........

इसमें आपका जो अपूर्व पाण्डित्य, परिश्रम, लिपिकौशल और विवेचना प्रणाली प्रदर्शित हुआ है उसके लिये आपको भूयोभूयः धन्यवाद ज्ञापन करता हूँ। भक्ति और नाम-माहात्म्य का प्रचार करके आपने युगोपयोगी जीव-सेवा का कार्य ही किया है। आशा करता हूँ कि आपका सुख-स्वप्न अदूर भविष्य में कार्य में परिणत होगा और श्री भगवत् प्रेम की वन्या में समग्र विश्व प्लावित होगा।

(२)

लेखक—श्री अभिराम दास शास्त्री, व्याकरणाचार्य, साहित्याचार्य, वेदान्त शास्त्री, आदर्श श्री रामानन्द महाविद्यालय, शंकुधारा,

वाराणसी—३

वांछा कल्पतरुभ्यश्च कृपा सिन्धु भ्यएव च।
पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्ति, भक्त, भगवन्त, गुरु, चतुर नाम वपु एक ।
तिनके पद वन्दन किये, नाशहिं विघ्न अनेक ।।

परम प्रियतम प्राणाधार श्री श्री भगवान की भक्ति के बिना प्राणी सर्वथा सुखी नहीं हो सकता । अतः मुझे परम प्रसन्नता है कि ऐसी पतितपावनी, भक्त-मनोहारिणी, सकल सुख कारिणी श्री हरिभक्ति के प्रचार प्रसार के लिये प्रातः स्मरणीय, परमादरणीय पूज्यपाद, जीव-कल्याण परायण, भागवत शिरोमणि श्री श्रीमत् कानुप्रिय गोस्वामी जी ने बंग भाषा में "श्री भक्ति रहस्य कणिका" नामक ग्रन्थ रचकर मानव मात्र का बहुत बड़ा उपकार किया है ।

इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ का प्रचार जन-जन में हो, ऐसी पवित्र भावना को लेकर अनुवादक महोदय ने, इन्हीं नवद्वीप-निवासी स्वनामधन्य, नामविज्ञानाचार्य, अनन्त श्री विभूषित, आकुमार ब्रह्मचारी, सदाचार सम्पन्न गोस्वामी महाराज की कृपा-शक्ति की प्रेरणा से, राष्ट्र भाषा हिन्दी में इस पावन ग्रन्थ का अनुवाद करके 'सोने में सोहागा'—इस युक्ति को सार्थक कर दिया है । इस अनुवाद में विशेषतः यह है कि इसमें ग्रन्थकार की लिखने की सुन्दर और चित्त-आकर्षक शैली ज्यों की त्यों सुरक्षित है ।

मैं ने इस ग्रन्थ को और उपरोक्त गोस्वामी महाराज-प्रणीत दूसरी पुस्तक "श्री श्री नामचिन्तामणि" को जो बंग भाषा में है आद्योपान्त पढ़ा । पढ़ने से मुझे बड़ी शान्ति मिली है ।

अन्त में मैं शरणागत प्रतिपालक श्री सीता-नयन-चकोर-चन्द्र भगवान श्री रामचन्द्र जी से प्रार्थना करता हूँ कि इस अनुपम ग्रन्थ के पठन पाठन और मनन से जन-जन में श्री हरिभक्ति भाव का उदय हो ।।इति।।

——

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आम्नाय-ग्रन्थालय,
भरतमिलाप, करौंदी
वाराणसी-5

श्री श्री गुरु-गौराङ्गौ जयतः

निवेदन

श्री श्री गौरराय-महाप्रभु की प्रेरणा, शुभेच्छा और अचिन्त्य-कृपा से 'श्री भक्ति रहस्य कणिका' ग्रन्थ का प्रकाश-कार्य सुसम्पन्न हुआ है। इसलिए सबसे पहले उनके रातुल श्री चरणाम्बुज में सकृतज्ञ अशेष प्रणति निवेदन करता हूँ।

इस ग्रन्थ के लिखने के विषय में न तो मेरी स्पृहा थी, न मेरा आग्रह या संकल्प ही था। उन्हीं अनन्त लीलामय के किसी उद्देश्य से, जिसे मैं जानता नहीं, मैं इस ग्रन्थ के प्रकाश-कार्य के लिये अप्रत्याशित रूप से ऐसे घटना-चक्र में फँसा कि उससे निकलने का कोई भी उपाय न मिल सका; किन्तु मुझ ऐसे क्षुद्र और अज्ञ जीव के लिये अग्रसर होना भी यथेष्ट उद्वेग का कारण हो गया था!

विशेषतः इसकी सम्पूर्ण पाण्डु-लिपि भी तैय्यार न हो पायी थी कि इसके मुद्रण का कार्य आरम्भ हो गया, इसलिए मुद्रण के कार्य के साथ ही साथ उनकी प्रेरणा से जो कुछ लिखा जा सका, वही छपता गया। इस तरह से यह ग्रन्थ परिसमाप्त हुआ है। जिस घटना-चक्र में फँसकर मैंने यह ग्रन्थ लिखा है, उसका विस्तारित उल्लेख अनावश्यक है।

मेरे इस कहने से कि मुझे अपने नियमित कार्य के पश्चात् ग्रन्थादि के लिखने का अवसर नहीं है, काम तो चल जाता, किन्तु घटना चक्र ऐसा था कि वाध्य होकर ग्रन्थ के प्रकाश का कार्य करना अनिवार्य हो गया था। मुद्रण का कार्य साथ ही साथ चलते रहने के कारण उसे असम्पूर्ण अवस्था में छोड़ देने से भी तो काम नहीं चलता था। मैं तो इस अभिप्राय से लिखने बैठता था

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कि बस इसी फर्मा में ही ग्रन्थ समाप्त कर दूँगा, किन्तु उसकी गति समाप्ति की ओर न जाकर विस्तार की ओर ही बढ़ती जान पड़ी। यह बात भी अज्ञात थी कि किस भाव में कहाँ जाकर यह पुस्तक समाप्त होगी। इसलिए यह भी एक समस्या का विषय बन गया था।

नाना प्रकार की प्रतिकूलता की अवस्था में सामान्य अवसर समय देते हुए तीन वर्ष से अधिक काल तक अविरत भाव से इस कार्य में नियुक्त रहा, जिससे पुस्तक के रूप में इसका प्रकाशित होना सम्भव हुआ है,—दूसरों के लिए जो भी विवेचित हो,—मेरे लिये तो उन करुणामय के एक प्रकार के खेल को छोड़कर और कुछ भी मानने का उपाय नहीं है।

मुझे पता नहीं है कि किस उद्देश्य से उन्होंने इस भारी बोझ को मेरे दुर्बल शिर पर लादा था, परन्तु उन्हीं ने ही कृपापूर्वक सकुशल उसे उतार भी लिया है और मुझे स्वस्थिर निःश्वास लेने का अवसर दिया है। इस पवित्र भार को उठा सकने का सौभाग्य मात्र मेरे लिए आनन्द का विषय है। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में इससे अधिक मेरे लिए और कुछ भी प्राप्य नहीं है।

यंत्र-चालित पुतली की तरह मुझ ऐसा सब विषयों में अयोग्य और अनभिज्ञ क्षुद्र जीव इस ग्रन्थ की रचना में केवल लेखनी धारक मात्र है, मेरा यह सुदृढ़ विश्वास है कि प्रेरक रूप में वही दीन-वत्सल प्रभु ही इसके प्रणेता हैं। जो अपनी कृपा से पंगु को निर्विघ्न गिरि-लङ्घन कराते है,—उनकी करुणा की प्रवाहिनी प्रायशः निम्नगामिनी होती है। इसलिए मुझ ऐसे दीन जन के प्रति उनकी ऐसी करुणा असम्भव नहीं है।

अतएव इस पुस्तक के प्रकाश में जिन्होंने ने मुझे केवल निमित्त मात्र करके स्वयं ही सब कुछ समाधान किया है,—इसका समस्त कर्तृत्व उन्हीं इच्छामय का ही है। तब भी मुझ ऐसे अयोग्य-आधार का अज्ञतादि दोष इसमें संस्पृष्ट होना अस्वाभाविक नहीं है। सार-ग्राही हंसस्वभाव; अदोषदर्शी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सज्जनवृन्द कृपापूर्वक ऐसे हेयांश को वर्जन और उपेक्षा करके, गुणांश यदि कुछ है तो उसे ग्रहण करेंगे—यह विनीत प्रार्थना है।

वर्तमान समय में इस पुस्तक की कुछ भी प्रयोजनीयता विवेचित होगी कि नहीं; अथवा यह व्यर्थता या सार्थकता वरण करेगी, इस विषय में विवेचना करने का कुछ भी सामर्थ्य मुझ में नहीं है। सहृदय और चिन्ताशील सज्जन स्वयं विवेचना करके निर्धारण करेंगे। इसका विचार भार उन्हीं के ऊपर है।

इस पुस्तक का पाठ जो सज्जनवृन्द कृपा पूर्वक अभिनिवेश और चिन्ता सहित करें, उन प्रत्येक की निरपेक्ष अभिमत यदि जान सकूं तो उपकृत और अनुगृहीत हूँगा।

बंगला भाषा में रचित इस ग्रन्थ का सर्व प्रथम अनुवाद हिन्दी भाषा में किया गया है। यह अनुवाद, भक्ति भवन, श्री शिवशंकर सहाय मार्ग, फतेहपुर (उत्तर प्रदेश) निवासी, श्री श्री गौर-गोविन्द जी के चरणारविन्द-मधुप परम भागवत श्रीयुत् यदुनन्दन सहाय महोदय ने निःस्वार्थ भाव से अत्यन्त परिश्रम तथा उत्साह सहित किया है। अन्यथा मेरे लिए तो यह ग्रन्थ प्रकाशित करना सम्भव न था। अतः आपके प्रति अशेष सधन्यवाद शुभेच्छा प्रकट करता हूँ।

इस ग्रन्थ का मुद्रण-कार्य उपरोक्त महोदय के जामातृ श्री कृष्ण चैतन्य महाप्रभु के चरणैकशरण भक्तप्रवर प्रयाग निवासी श्री श्री विहारी जी दास, एडवोकेट हाई कोर्ट, और गौर-कृष्ण-आश्रित भगवद्भक्त दोनों सुपुत्रगण श्री राजेन्द्र सहाय एडवोकेट व श्री शिवनन्दन सहाय (श्री गौरांगदास) एडवोकेट के समृद्ध अर्थानुकूल्य से सम्पादित हुआ है। अतएव इस ग्रन्थ के पठन पाठन द्वारा यदि कोई सज्जन स्वल्प मात्र भी उपकृत हों तो कृपया इन परमोदार महानुभावों के पारमार्थिक कल्याण हेतु अखिल ब्रह्माण्ड-नायक श्री श्री भगवान के श्री श्री चरण कमलों में सकातर प्रार्थना करेंगे, यही मेरा विनीत अनुरोध है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सम्भवतः धर्मप्राण सर्वसाधारण व्यक्ति पराभक्तियुत इस वृहत् ग्रन्थ को अधिक मूल्य से क्रयकर आद्योपान्त पठन पाठन में उत्साह कम करेंगे, इस विचार से सम्पूर्ण ग्रन्थ एक साथ मुद्रित न करके क्रमशः चार खण्डों में मुद्रण करने की व्यवस्था की गयी है। आशा है कि इससे स्वल्प व्यय तथा स्वल्प समय में ग्रन्थ का आस्वादन सुविधा जनक होगा।

इस प्रथम खण्ड के पाठकों से सदुत्साह प्राप्त होने पर अवशिष्टांश समस्त खण्ड अचिरात (अति शीघ्र) प्रकाशित किये जावेंगे। इति—

श्रीधाम नवद्वीप
श्री नृसिंह चतुर्दशी
विक्रम संवत् २०२१

श्री श्री गौरराय श्रीचरणाश्रित
दीनातिदीन
ग्रन्थकार।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

॥ श्री हरिः ॥

उत्सर्ग-पत्र

(समर्पण-पत्र)

कलियुग—पावनावतारी

'आद्य हरि'

श्री श्रीमन्महाप्रभु श्रीकृष्ण चैतन्यचन्द्र,

प्रभु श्री मन्नित्यानन्द चन्द्र, प्रभु श्रीमदद्वैतचन्द्र,

—त्रयी-निगूढ़तम

मूर्तिमन्त प्रेम-सुधाकर त्रय

में

यह क्षुद्र

श्री भक्ति रहस्य-कणिका

निवेदन पूर्वक,

वही प्रसादी निर्माल्य

श्री गौरचन्द्र-चरण-चन्द्रिकानुचर—सुधापायी

चकोर-निकर—नित्य परिकरों के

पवित्र स्मृति के उद्देश्य से

और

कलिहत जगत के प्रति उनकी

कृपार्शीवादरूप अमिय उद्‌गीरण कामना से

इस अकिञ्चन दीन-हीन कर्तृक

सर्मपित है ।

जय जय श्री चैतन्य जय नित्यानन्द ।

जयाद्वैत चन्द्र जय गौर भक्तवृन्द ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आम्नाय-ग्रन्थालय, ... काशी

॥ श्री श्री गौर हरिर्जयति ॥

❋ श्री श्री ❋

भक्ति रहस्य कणिका

(प्रथम खण्ड)

पङ्गुं लङ्घयते शैलं मूकमावर्त्तयेत् श्रुतिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे कृष्णचैतन्यमीश्वरम् ॥

विना प्रमाण कोई बात न तो कोई सुनना चाहता है और न स्वीकार ही करना चाहता है,—प्रमाण ही सब प्रवृत्तियों का मूल है। प्रमाण से ही विश्वास या श्रद्धा पैदा होती है; विश्वास से प्रवृत्ति पैदा होती है; प्रवृत्ति ही सब कर्मों का पूर्ववर्ती कारण है। प्रमाण अनेक प्रकार के हैं, किन्तु शास्त्र प्रधानतः तीन प्रमाण स्वीकार करते हैं। यथा,—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान और (३) शब्द।

हम लोग अपनी आँखों से देखकर जो ज्ञान अर्जन करते हैं, वही प्रत्यक्ष ज्ञान है; जैसे प्रभात में उठकर पूरब की ओर सूर्योदय होता हुआ देखा, इससे ज्ञान हुआ कि सूर्य पूरब की ओर ही उदित होता है—इत्यादि। जिससे जो वस्तु हुई है या होगी या होती है—उसे यदि हम समझ सके तो वही अनु-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मान है। जैसे मेघ देखकर वृष्टि होगी, अथवा नदी की पूर्णता देखकर ज्वार हुआ है, अथवा धुआँ देखकर अग्नि है,—इस प्रकार निश्चय करने को 'अनुमान' कहते हैं। लौकिक और अलौकिक सब प्रकार ज्ञान के निदान भूत अभ्रान्त वेद और वेदानुगत समस्त शास्त्रों ने जो कहा है वही है शब्द प्रमाण। उसे आप्तोपदेश भी कहते हैं[1]। 'आप्त' शब्द का अर्थ है यथार्थ वक्ता,[2] उनका जो उपदेश है वही आप्तोपदेश कहलाता है।

प्रमाण प्रधानतः इन तीन प्रकार के होने पर भी प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण की अपेक्षा शब्द प्रमाण ही श्रेष्ठ है; क्योंकि मायाधीन जीव के प्रत्यक्ष व अनुमान ज्ञान में—भ्रम, (किसी विषय को जैसा वह नहीं है वैसा जानना) प्रमाद, (अनवधानता) विप्रलिप्सा, (वञ्चना करने की इच्छा) और करणापाटव, (इन्द्रिय की अपटुता अर्थात् इन्द्रिय में पूर्ण शक्ति का अभाव)—यह चार दोष हो सकते हैं; किन्तु मायाधीश सर्वज्ञ ईश्वर के वाक्य स्वरूप शास्त्र वाक्य में इस प्रकार के किसी भी दोष की सम्भावना नहीं है। यथा,—

"भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव।
ईश्वरेर वाक्ये नाहि दोष एई सब॥"
(श्री चैः। आदि।७)

मनुष्यों का प्रत्यक्षादि ज्ञान, सर्वदा 'प्रमा' या अभ्रान्त ज्ञान न होने से, बहुत आसानी से ही दोषयुक्त हो सकता है, यह बात दो एक साधारण दृष्टान्त ही से आसानी से समझ में आ सकती है। पृथ्वी की अपेक्षा बहुत गुना बड़े सूर्य को हम लोग एक स्वर्ण की थाल की तरह देख पाते हैं। जो देखते हैं, उसी को ही यदि हम सत्य मान लें, तो सूर्य का विस्तार एक थाल की तरह ही बताना पड़ेगा। जिन लोगों को सूर्य के विस्तार के सम्बन्ध में शास्त्र ज्ञान

[1]—आप्तोपदेशः शब्दः—न्याय दर्शन ,१, १, ७।
[2]—तर्क संग्रह : ४।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भरतनिधि, वाराणसी

नहीं है, वह लोग अपने प्रत्यक्ष अनुरूप ही सूर्य का विस्तार मानते हैं; इसलिये प्रत्यक्ष ज्ञान सब समय 'प्रमा' या अभ्रान्त ज्ञान की तरह स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

अग्नि को जल द्वारा बुझाई जाने पर भी कुछ देर तक उससे धुआँ निकलता रहता है; इसलिये धुआँ देखकर अग्नि की कल्पना जिस प्रकार सब जगह अभ्रान्त अनुमान नहीं है, उसी प्रकार अनेक स्थलों में दूसरे अनुमानों के भी असत्य होने की ही सम्भवना है।

प्रमाणों में शास्त्र प्रमाण ही सर्वश्रेष्ठ।

जब कि हम लोग प्रत्यक्ष और अनुमान ज्ञान द्वारा सामान्य लौकिक विषय का ही अभ्रान्त रूप से सब समय निर्णय नहीं कर सकते, तब ऐसे तुच्छ प्रत्यक्ष और अनुमान के आधार पर कैसे अज्ञात, अज्ञेय, अचिन्त्थ, अलौकिक और अनन्त ब्रह्मवस्तु के निर्णय करने का साहस कर सकते हैं? ऐसा साहस पंगु के पहाड़ लांघने के प्रयास की तरह अत्यन्त युक्ति विरुद्ध है। इसलिये यह जान लेना आवश्यक है कि श्री भगवान के आदेश और उपदेश स्वरूप शास्त्र ही उन्हें निर्णय करने का एक मात्र उपाय है। अप्राकृत अचिन्त्य वस्तु के निर्णय में 'शब्द' या शास्त्र प्रमाण ही श्रेष्ठतम प्रमाण है।[1]

वेद और पुराणादि सभी शास्त्र शब्द-प्रमाण के रूप में गिने जाते हैं। शास्त्र अति विशाल और विस्तृत, समुद्र की तरह अतलस्पर्शी हैं। इनका आदि, मध्य और अन्त,—इनका दिक्, प्रान्त और सीमा, अपने परिच्छिन्न बुद्धि द्वारा हम लोग किसी प्रकार भी निर्णय नहीं कर सकते हैं। चारों ओर फैले हुए महासागर के अज्ञात वक्ष में जिस प्रकार नाविक के अतिरिक्त और कोई

---

[1] इस विषय की विशेष आलोचना ग्रन्थकार कृत "श्री नाम चिन्तामणि" ग्रन्थ के प्रथम किरण के प्रथम उल्लास में देखना चाहिये। सुविस्तारित आलोचना श्रीमज्जीवगोस्वामिपाद कृत तत्वसन्दर्भ में देखना चाहिये।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भी रास्ता के निर्णय करने में समर्थ नहीं होता, उसी तरह जो लोग स्थितिप्रज्ञ नहीं हैं, उनकी बुद्धि शास्त्र के प्रयोजन, अभिधेय और सम्बन्ध के निर्णय करने में कभी भी समर्थ नहीं हो सकती; इसलिये शास्त्र वाक्य प्रमाण-शिरोमणि तो हैं, किन्तु "बांस के वन में डोम काना" * की तरह शास्त्र का क्या उद्देश्य है, क्या विधेय है, इसके निर्णय में साधारणतः हम लोग असमर्थ हैं। तभी तो शास्त्र ने कहा है—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।
धर्म्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥
(महाभारत। वनपर्व)

इसका अर्थ—तर्क की प्रतिष्ठा नहीं है; सब श्रुति भी वाह्य दृष्टि में विभिन्न मत निर्देश करती देखी जाती हैं; इसलिये ऐसा कोई मुनि नहीं है जिसका मत दूसरे से भिन्न न हो; धर्म का तत्त्व अंधकार के गर्भ में ही छिपा है; अतः महाजन जिस रास्ते से गये हैं, उनके अनुसरण को छोड़कर धर्मपथ निर्देश का दूसरा रास्ता नहीं है। शास्त्र काउद्देश्य-निरूपण वास्तविक यही है। दूध पीने की चीज़ होने पर भी जिस प्रकार वह कपड़े से छानने के बाद ही पीने योग्य होता है, उसी प्रकार शास्त्र-प्रमाण ग्रहणीय होने पर भी सद्गुरु और साधुमुखनिःसृत शास्त्रोपदेश ही ग्रहणीय है, नहीं तो पथभ्रान्त होने की सम्भावना रहती है।

साधारणतः हम यदि अपनी बुद्धि के बल पर वेदादि—शास्त्र-तात्पर्य अन्वेषण करने जायँ तो देखेंगे, कहीं तो कर्म का प्राधान्य, कहीं ज्ञान का प्राधान्य, कहीं योग का प्राधान्य और कहीं भक्ति का प्राधान्य कीर्तित हुआ है। इससे प्रयोजन और अभिधेय के निर्णय करने में बुद्धि में विक्षेप

* यह बंगाल में कहावत है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उपस्थित होता है; किन्तु वेद-विद् सज्जनों ने हमें अधिकारी व क्रम के अनुसार जैसा वेद को उसका सुन्दर विभाग करके समझा दिया है, उसी आदर्श को सामने रख कर यदि हम शास्त्र-तात्पर्य ग्रहण करने की चेष्टा करें तो हम निश्चय ही समझ सकते हैं कि एक मात्र श्रीभगवद्भक्ति ही सब शास्त्रों का मुख्य तात्पर्य है—सकल निगम वल्लो (वेद रूपी वृक्ष) का सत्फल भक्ति है। जब तक यह भक्तिफल आस्वादित न होगा, तब तक जीव के सुख-पिपासा की सम्पूर्ण निवृत्ति, चाहे वह विषयी अथवा कर्मी, ज्ञानी, योगी जोभी हो, असम्भव है। इसलिये देखा जाता है कि परिच्छिन्न—अपूर्ण विषय सुखान्वेषी जीव की बात तो दूर रही—परमात्मदर्शी—पूर्णकाम आत्माराम मुनिगण भी श्री हरिपाद पद्म-सौरभ-लुब्ध कारिणी अमला भक्ति में आकृष्ट होते है। यथा—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूत गुणो हरिः॥
(श्रीमद्भागवत। १, ७, १०)

इसका अर्थ—श्री हरि के ऐसे गुण हैं कि आत्माराम मुनिगण निर्ग्रन्थ होने पर भी उन्हीं उरुक्रम—श्री भगवान में अहैतुकी भक्ति किया करते हैं।

सब शास्त्रों का एक स्वर—एक तात्पर्य।

अधिकारी भेद से साधना की विभिन्नता तो परिलक्षित होती है, किन्तु साध्य एक ही है—"एकमेवाद्वितीयम्"—उसी एक की ही विजय वार्त्ता को घोषित करने का—उसी एक को ही व्यक्त करने का, सारे शास्त्रों का सम्मिलित अभिप्राय है। जब तक बाजों की एक तान की मधुर ध्वनि कानों ने नहीं सुनी, तभी तक लोग एक-एक बाजे की अलग-अलग ध्वनि सुनकर ही परितृप्त रहते हैं; अपने रुचि के अनुरूप किसी एक प्रकार के बाजे को ही श्रेष्ठ समझ कर अन्य प्रकार के बाजे की ध्वनि का त्याग करते हैं। उसी तरह सब

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शास्त्रों की सम्मिलित ध्वनि की एक तान श्रुति गोचर होने से फिर अलग-अलग ध्वनि सुनने की इच्छा नहीं होती; परन्तु तब यह इच्छा होती है कि सभी शास्त्रवाक्यों को उसी एक तान की सम्मिलित झंकार में मिलाकर, उसी मधुर ध्वनि के अमृत-तरंग में डूबते रहें।

त्रिगुण का तारतम्य ही जीव-प्रकृति के पार्थक्य का कारण।

केन्द्र स्थल से जो जितनी दूर अवस्थित है, केन्द्र के निकट और उससे दूरी के अनुसार केन्द्र की उपलब्धि और उसमें उपस्थिति का तारतम्य उतना होना ही युक्तिसिद्धि है। केन्द्र स्थल से जो जितनी दूर चला गया है, उसे वहाँ वापस आने में उतनी ही देर लगेगी। सत्त्व, रज और तम — इन तीन प्राकृति के गुणों के तारतम्यानुसार मनुष्यों के अधिकार का भी तारतम्य अवश्यम्भावी है। इन तीनों गुणों का तारतम्य—केवल जीव के प्रकृति और अधिकार का ही नहीं, अपितु सारी सृष्टि की विचित्रता का भी कारण है।

मनुष्यों के भी विभिन्न प्रकृति, विभिन्न रूप और गुणादि का कारण भी इन त्रिगुणों का तारतम्य है। कोई सत्त्वगुण प्रधान है, तो कोई रजोगुण प्रधान है, या कोई तमोगुण प्रधान है। फिर इन नीनों गुणों के हीन, मध्य और अधिक भेद से असंख्य प्रकार के विभाग हो सकते हैं। वायु, पित्त और कफ़ इन तीनों दोषों के तारतम्यानुसार जिस तरह असंख्य व्याधि पैदा होती है और दोष के न्यूनाधिक शक्ति के अनुसार उनकी औषधि और चिकित्सादि जिस तरह एक प्रकार की न होकर बहुत प्रकार की होना ही युक्तियुक्त है, उसी तरह सत्त्व, रज और तमोगुण के असंख्य विकारानुरूप भवव्याधि भी बहुत प्रकार की हैं; इसलिये तीनों गुणों की कम व अधिक शक्ति के अनुसार उनके प्रतिकारोपाय भी एक प्रकार के न होकर बहुत प्रकार के होना ही युक्तिसंगत है। सनातन धर्म के लीला-निकेतन— पुण्य भारत भूमि के अतिरिक्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दूसरे किसी भी देश में इस युक्ति का मूल्य अनुभूत नहीं होता। त्रिदोष के कम व अधिक शक्ति के अनुसार देह रोग की औषधि आदि बहुत प्रकार की हैं, परन्तु त्रिदोष का साम्यभाव स्थापन करना और स्वास्थ्य सुख प्रदान करना जिस प्रकार चिकित्सा-विद्या का मुख्यतम प्रयोजन है – उसी प्रकार भव-रोग की चिकित्सा अधिकारी भेद से बहुत प्रकार की परिदृष्टि तो होती हैं किन्तु उद्देश्य एक है। त्रिविध दुःखों की अत्यन्तिक निवृत्ति और अनन्त सुख की प्राप्ति—यही समस्त धर्म-शास्त्रों का एक मात्र तात्पर्य है। इस उद्देश्य में--केवल भक्ति ही जीव का मुख्य प्रयोजन है, एक साथ अत्यन्तिक दुःख निवृत्ति के सहित परमानन्द-प्राप्ति का,—भक्ति ही प्रकृष्ट पन्था या परमोपाय है—इस बात की सुस्पष्ट रूप से उपलब्धि हम लोग निम्नोक्त विषयों की निरपेक्ष और गम्भीर भाव से पर्यालोचना करने पर ही कर सकेंगे। भक्ति ही समस्त वेद-वृक्ष का मुख्यतम फल है—एक मात्र भक्ति में ही समग्र वेदवाणी का पर्यवसान है—यह बात वेद के यथायथ विभाग अनुसार पर्यालोचना करने पर ही सरलता से ही बोधगम्य हो सकती है।

जीव-प्रकृति की भिन्नता के अनुसार समस्त वेद विभक्त होने पर भी, भक्ति ही सब वेदों का मुख्य तात्पर्य।

वेद प्रधानतः तीन काण्डों में विभक्त हैं; यथा—(१) कर्मकाण्ड, (२) देवता काण्ड और (३) ज्ञानकाण्ड। फिर कर्मकाण्ड दो प्रकार के हैं—सकाम-कर्म और निष्काम कर्म; सकाम कर्म फिर भुक्ति इच्छा या भोगवासना मूलक और मुक्तीच्छा या मोक्ष-वासना मूलक भेद से द्विविध हैं। विषय-वासना-शून्य मुक्ति-इच्छा निष्काम कही जाने पर भी वह और भुक्तीच्छा दोनों ही आत्म-सुखेच्छा-तात्पर्यमयी होने से सकाम कर्म के ही अन्तर्गत हैं।

भुक्तीच्छामूलक सकाम कर्म फिर ऐहिक और पारलौकिक भेद से द्विविध हैं। इसी संसार में धन-धान्य, पुत्र कलत्र, राज्य-सम्पद, यश-मान-प्रतिष्ठादि की प्राप्ति कामना को ऐहिक भुक्तीच्छामूलक सकाम कर्म और परकाल में स्वर्ग-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सुखादि प्राप्ति कामना-मूलक कर्म को पारलौकिक भुक्तीच्छा-मूलक सकाम कर्म कहते हैं। यह दोनों प्रकार के भुक्तीच्छा-मूलक कर्म ही फिर हिंसायुक्त और हिंसारहित भेद से दो प्रकार के हैं। ऐहिक या पारलौकिक भुक्तीच्छा पूरी करने के लिये बकरी, भेड़ आदि की बलि प्रदान पूर्वक जो सब याग-यज्ञादि अनुष्ठित होते हैं उन्हीं को हिंसायुक्त और इनसे वर्जित को हिंसा रहित कहते हैं।

(१) हिंसायुक्त ऐहिक या पारलौकिक भुक्तीच्छामूलक सकाम कर्म होते हैं। —तामसिक।

(२) हिंसा-रहित ऐहिक या पारलौकिक भुक्तीच्छामूलक सकाम कर्म होते हैं—राजसिक।

(३) मुक्तीच्छामूलक सकाम-कर्म—सात्त्विक।

(४) निष्काम-कर्म – (अर्थात् फलभोग-वासना रहित — केवल भगवत्-प्रीत्यर्थ अनुष्ठित कर्म ही) चित्तशुद्धि करने वाले और निर्गुण ज्ञान के प्रापक हैं। उक्त कर्मकांड के अनुष्ठान के साथ बहुत प्रकार के देवताओं की उपासना उपदिष्ट हुई है; यही वेद के देवताकांड का विषय है। अधिकारी भेद से यह उपासना भी फिर दो प्रकार की है। यथा—(१) सगुण उपासना और (२) निर्गुण उपासना। सात्त्विकादि अधिकारी भेद से विभिन्न देव देवी की उपासना को सगुण उपासना और एकमात्र परब्रह्म या परमेश्वर की उपासना को ही निर्गुण उपासना कहते हैं। निर्गुण का अर्थ है— प्राकृत-गुण-सम्बन्ध रहित। सात्त्विक, राजसिक और तामसिक अधिकारी भेद से अर्थात् तज्जातीय श्रद्धा के अनुसार विभिन्न सगुण देवताओं की उपासना विहित हुई है।[1]

[1]त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥
यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥
(गीता। १७।२, ४)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

पुस्तकालय—संग्रहालय, ...निधि, करौली

निष्काम कर्म के अनुष्ठान से जिनके चित्त वासना-शून्य हो चुके हैं, वही लोग परब्रह्म की उपासना के अधिकारी हैं; परब्रह्म के विषय में श्रद्धान्वित होने से ही उस विषय में अधिकार होता है। स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ही उन परब्रह्म के प्रतिष्ठा या परमाश्रय हैं। यथा—

> ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
> शाश्वतस्य च धर्म्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥
>
> (गीता, १४, २७)

इसका अर्थ—मैं ब्रह्म का प्रतिष्ठा या आश्रय हूँ अर्थात् घनीभूत ब्रह्म ही मैं हूँ; उसी तरह अमृत, अव्यय, नित्य, धर्म और ऐकान्तिक या अखण्ड सुख का भी मैं प्रतिष्ठा या आश्रय हूँ।

अधिकार या श्रद्धा अनुरूप सगुण कर्म और उपासना के द्वारा जीव की क्रमिक उन्नति या ऊर्ध्वगति लाभ हुआ करती है। केवल निष्काम कर्म के अनुष्ठान द्वारा ही चित्त की शुद्धि होती है और उसके फलस्वरूप ज्ञान का आविर्भाव होता है; यहीं से वेद के ज्ञानकांड का प्रारम्भ है।

अपरा और परा विद्या या परोक्ष और अपरोक्ष ज्ञान।

यह ज्ञान फिर परोक्ष और अपरोक्ष भेद से दो प्रकार का है। केवल शास्त्र-श्रवण और अध्ययनादि जनित ज्ञान — परोक्षज्ञान या अपराविद्या है और उस परोक्षज्ञान का सारांश ही अपरोक्षज्ञान या पराविद्या के नाम से कथित हुआ है। जैसे मानचित्र के देखने से पृथ्वी की अनुभूति, यह है परोक्षज्ञान;

अर्थ—देहधारियों की स्वाभाविकी श्रद्धा तीन प्रकार की होती है; सात्त्विक, राजसिक और तामसिक—उसे सुनो। (२)

सात्त्विक प्रकृति के लोग देवताओं की, राजसिक लोग यक्ष और राक्षसों की, और तामसिक लोग भूत-प्रेतों की उपासना करते हैं। (४)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और पृथ्वी भ्रमण करके पृथ्वी की अनुभूति ही उस विषय में अपरोक्ष ज्ञान है। इस पराविद्या के आलोक में ही परतत्त्व वस्तु का साक्षात्कार होता है, इसलिए यही समस्त विद्या का फलरूप माना गया है। यथा—

"द्वे विद्ये वेदितव्य इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति, परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते॥"

(मुन्डक १, १, ४-५)

इसका अर्थ—ब्रह्मविद्गण कहते हैं कि विद्या दो हैं; परा और अपरा। उनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष प्रभृति (इन सबका केवल श्रवण या अध्ययनादि जनित ज्ञान) का ही नाम अपराविद्या है; और जिसके द्वारा उन अक्षर पुरुष या परतत्त्व को जाना जाता है, वही पराविद्या है। इस पराविद्या के आलोक में ही तत्त्व वस्तु का साक्षात्कार होता है। तत्त्व साक्षात्कार ही पराविद्या का प्रयोजन है।

एक अद्वय-ज्ञान-तत्त्व का त्रिविध प्रकाश।

एक ही अद्वय ज्ञान-तत्त्व साधक के अधिकार और भाव-अनुरूप त्रिविध रूप में प्रकाशित होता है; यथा—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

(श्री भागवत १, २, ११)

इसका अर्थ—तत्त्वविद्गण एक अद्वय-ज्ञान को 'तत्त्व' कहते हैं। वह अद्वय या अखण्ड ज्ञानतत्त्व निर्विशेष सत्तामात्र रूप में प्रकाश होने पर, ज्ञानी लोग उसे 'ब्रह्म' कहते हैं; अंतर्यामी रूप में प्रकाश होने पर, योगीगण उसे 'परमात्मा' रूप में निर्देश करते हैं और सर्वशक्ति-समन्वित सच्चिदानन्द

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

न श्री मूर्तिरूप में प्रकाश होने पर भक्त लोग उसे 'श्री भगवद्स्वरूप में' त्यक्त करते हैं।

अपरोक्ष ज्ञान के फलस्वरूप जो तत्त्व साक्षात्कार होता है, वह प्रधानतः दो प्रकार का है। यथा—(१) निर्विशेष या निर्विकल्प साक्षात्कार और (२) सविशेष या सविकल्प साक्षात्कार। निर्विशेष तत्त्व साक्षात्कार का दूसरा नाम ब्रह्म-साक्षात्कार है; यह ज्ञान-योगी की अधिकार सीमा है। सविशेष तत्त्व-साक्षात्कार फिर आंशिक और पूर्ण भेद से दो प्रकार का है। इनमें (१) परमात्म-साक्षात्कार आंशिक तत्त्व साक्षात्कार है, यह अष्टांग-योगी की अधिकार सीमा है और (२) श्री भगवत्-साक्षात्कार पूर्ण तत्त्व-साक्षात्कार है, इसका अधिकार केवल भक्त-योगी को या भक्त को ही है—"भक्त्याहमेकया ग्राह्यः—" श्री भा० ११, १४, २०)

स्वप्रकाश शुद्धा भक्ति या भागवत धर्म ही समस्त वेद वृक्ष का मुख्य फल।

भक्ति भी ज्ञान-विशेष है। ("भक्तिरपि ज्ञान विशेषो भवतीति"—सिद्धान्तरत्नम्, १, ३२), यह कर्मयोगी के, ज्ञानयोगी के या अष्टाङ्ग योगी के ज्ञान से भी विशेष ज्ञान है और कर्म, ज्ञान और योगादि द्वारा आवृत या संस्पृष्ट भी नहीं है,—यह विशुद्धा और स्वरूपसिद्धा, केवला या अनन्या प्रभृति नामों से प्रसिद्धा है।

इस ज्ञान विशेष या शुद्धा भक्ति का, निष्काम कर्मादि भी हेतु नहीं है। यह एकमात्र यदृच्छालब्ध या अहेतुक भक्त—महत्सङ्ग और कृपादि से जीव के हृदय में संचारित होती है। यदि हम वेद के विभाग की, स्थिर भाव से, पर्यालोचना करें तो यह समझ सकेंगे कि,—भक्ति ही समस्त निगम-कल्पतरु का शेष फल है,—भक्ति ही समस्त वेद-वाणी का विश्राम स्थल है; अतएव भक्ति ही सब जीवों का मुख्य-प्रयोजन है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वेद का

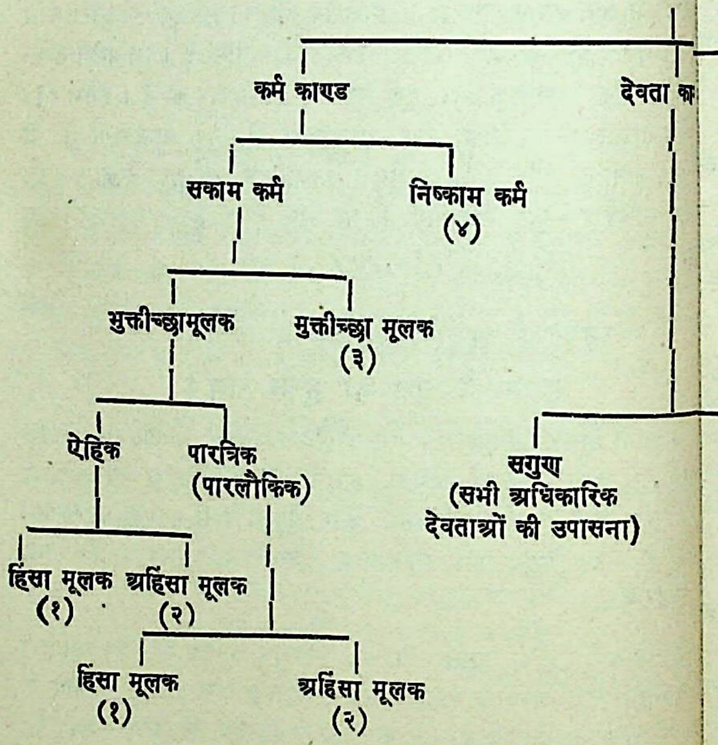

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विभाग

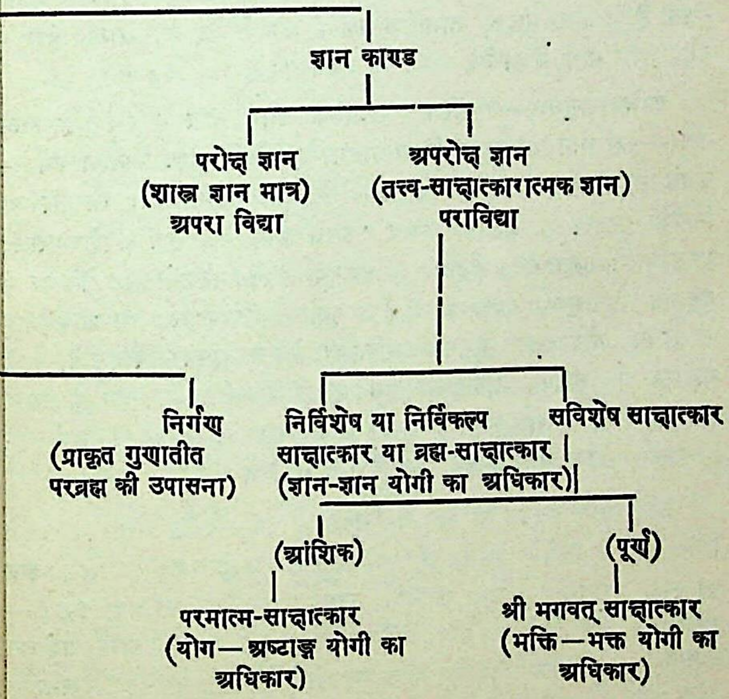

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१—हिंसा मूलक सकाम कर्म—तामसिक अधिकारी के लिये
२—अहिंसा मूलक सकाम कर्म—राजसिक ,, ,, ,,
३—मुक्तीच्छा मूलक सकाम कर्म—सात्त्विक ,, ,, ,,
४—निष्काम कर्म के अनुष्ठान से, चित्त की मलिनता मिट जाती जिससे (अर्थात् फल भोगासक्ति क्षय होने से) ज्ञान का अधिकार पैदा हो है। (गीता, ३,१८ द्रष्टव्य) वेद के उक्त क्रम निर्देश से यह बात समझ में आ सकती है कि हिंसा मूलक, तामसिक सकाम कर्म से वेद का आरम्भ होता और शुद्धा भक्ति में ही वेद वाक्य का पर्यावसान है।

अधिकारानुसार—तामसिक, राजसिक और सात्त्विक कर्म और उस ऊपर—फल भोग वासना या विषय-वासना क्षय करने वाला निष्काम कर्म,- उससे ऊपर परोक्ष ज्ञान, उससे ऊपर—अपरोक्ष ज्ञान और तत्फलस्वरू निर्विशेष परतत्त्व या ब्रह्म-साक्षात्कार, उससे ऊपर—आंशिक सविशेष-परतत्त्व या परमात्म-साक्षात्कार, वेद का प्रतिपाद्य विषय या प्रयोजन होने पर यह सब विषय मुख्य प्रयोजन नहीं हैं। पूर्ण सविशेष परतत्त्व या श्री भगवत्‌ साक्षात्कार और उसकी हेतुभूता भक्ति ही वेद का मुख्य प्रयोजन है;—श्री भगवान और तद्विषया भक्ति, या दूसरे शब्दों में, श्री भागवत-धर्म ही समस्त वेद-वाणी का विश्राम स्थल है। श्री भागवत धर्म ही परम धर्म है जिससे अधिक या जिसके समान कुछ नहीं है।

जैसे, दृष्टान्त स्वरूप में कहा जा सकता है कि—दरिद्र भिक्षा क्यों करता है?—अर्थ के लिये। अर्थ का क्या प्रयोजन?—अन्न संग्रह करने के लिए। अन्न का क्या प्रयोजन?—क्षुधा शान्ति। क्षुधा शान्ति का प्रयोजन क्या?—सुख प्राप्ति। सुख-प्राप्ति का क्या प्रयोजन है?—सुख-प्राप्ति का अन्य प्रयोजन नहीं है; यह दूसरे किसी प्रयोजन के अधीन नहीं है; सुख-प्राप्ति ही सुख-प्राप्ति का प्रयोजन है। दरिद्र का मुख्य प्रयोजन सुख-प्राप्ति ही है; भिक्षा, अर्थोपार्जन, अन्न संस्थान और भोजनादि भी प्रयोजन तो हैं, किन्तु यह सभी गौण प्रयोजन हैं जो एक मात्र सुख-प्राप्ति के उद्देश्य से ही अनुष्ठित होते हैं, नहीं तो भोग

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नादि का न तो कोई प्रयोजन रहता और न उसकी सार्थकता रहती । वह सब मुख्य प्रयोजन के अधीन मात्र है, इसलिये मुख्य प्रयोजन ही साध्य वस्तु है ।

वेदादि शास्त्रों का उद्देश्य भी ठीक ऐसा ही है ।

१—हिंसायुक्त भुक्तीच्छा मूलक सकाम कर्म,

२—हिंसा-शून्य भुक्तीच्छा मूलक सकाम कर्म,

३—मुक्तीच्छा मूलक सकाम कर्म,

४—निष्काम कर्म,

५ परोक्ष ज्ञान,

६—अपरोक्ष ज्ञान,

७—निर्विशेष ब्रह्म-साक्षात्कार,

८—सविशेष परमात्म-साक्षात्कार,

९—सविशेष और परिपूर्ण श्री भगवत्-साक्षात्कार,

इतना सब प्रयोजन परिदृष्ट होने पर भी, भगवत्-साक्षात्कार का एक मात्र कारण यह भक्ति ही वेदादि शास्त्रों का मुख्य प्रयोजन या परम साध्य वस्तु है और दूसरे सभी गौण प्रयोजन हैं, इसलिये मुख्य प्रयोजन भक्ति के ही अधीन हैं, यहाँ तक कि सर्वाधीश श्री भगवान भी भक्ति के अधीन रहा करते हैं ।—"अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज ।" (श्री भाः ९, ४, ६३) भक्ति निगम कल्पतरु का शेष फल है तभी तो सर्वापेक्षा सुदुर्लभ सम्पद है । भक्ति की यह सुदुर्लभता भी उसके सर्वश्रेष्ट होने का एक विशेष प्रमाण है ।

शुद्धा भक्ति की सुदुर्लभता ।

जो वस्तु जितनी सुलभ होती है, उसके अधिकारी भी उतने ही अधिक होते हैं और जो जितनी दुर्लभ होती है, उसके अधिकारी उतने कम होना ही स्वाभाविक है । भक्ति सर्वापेक्षा दुर्लभ वस्तु होने के कारण ही इसके अधिकारी की संख्या भी उसी तरह कम है । इस अनुपात में सकाम कर्मी की अपेक्षा निष्काम कर्मी की संख्या कम है, उसकी अपेक्षा ज्ञानी की और उसकी अपेक्षा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

योगी की संख्या कम है और भक्त की संख्या उनकी अपेक्षा और भी कम इसलिये भक्ति ही होती है—परम सुदुर्लभा। तभी शास्त्र में कहा गया है—

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥

(श्री भाः ६, १४,

इसका अर्थ,—हे महामुने! जो लोग सिद्धि लाभ करके मुक्तिपद प्रा कर चुके हैं, ऐसे कोटि सिद्धों में एक भी हरि भक्त प्रशान्त चित्तवाला सुदुर्ल है। उक्त श्लोक की व्याख्या में पूज्यपाद श्री चरितामृतकार ने भी लिखा है-

वेदनिष्ठ मध्ये अर्द्धेक वेद मुखे माने।
वेदनिषिद्ध पाप करे धर्म नाहि गने॥
धर्मचारी मध्ये बहुत कर्म निष्ठ।
कोटि कर्मनिष्ठ मध्ये एक ज्ञानी श्रेष्ठ॥
कोटि ज्ञानी मध्ये होय एक जन मुक्त।
कोटि मुक्त मध्ये दुर्लभ एक कृष्ण भक्त॥

(श्री चैः। मध्य, १६

इसलिये केवल भक्ति ही जीव का मुख्य प्रयोजन और भागवत धर्म वेदादि शास्त्रों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय तो है, किन्तु शुद्धा भक्ति की सुदुर्लभ व स्वप्रकाशता के कारण सब को उसमें 'अधिकार' या 'श्रद्धा' लाभ करने सौभाग्य नहीं होता; क्योंकि भक्ति या भागवत-धर्म के अनुष्ठान का व 'अधिकारी' हो सकता है जिसने एक मात्र तज्जातीया भागवती श्रद्धा ला की है—"श्रद्धावान जन होय भक्त्ये अधिकारी।"

(श्री चैः। म। २२।३८)

इसके अतिरिक्त भक्ति के अनुशीलन में या श्री कृष्ण-भजन के पथ दूसरे किसी भी अधिकार का अर्थात् देश, काल, पात्रादि का विचार नहीं है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आम्नाय—ग्रन्थां १७ य,
भरतनिधि, फरीद
...

यथा,—

"जेई भजे सेइ बड़, अभक्त हीन छार
कृष्ण-भजने नाहि जाति-कुलादि-विचार ॥"[१]

(श्री चै: । ३।४)

यदि किसी अनिर्दिष्ट महाभाग्य के उदय होने से किसी ने भक्ति की मुख्य प्रयोजनीयता, उपादेयता और सर्वश्रेष्ठता समझकर, भक्ति या भगवत् सम्बन्धीय श्रद्धा लाभ कर ली है, तो यह समझना चाहिये कि उसे भक्ति के अनुशीलन का यह अधिकार यदृच्छालब्ध भक्त-महत्-सङ्गादि के कारण से ही प्राप्त हुआ है। इसके अतिरिक्त इसका दूसरा कोई भी कारण नहीं हो सकता।

इसलिये अहैतुकी महत्-कृपादि-सापेक्ष भक्ति या भागवत धर्म की अनुशीलन-प्रवृत्ति की अपेक्षा, कर्मादि सापेक्ष और देहधारियों की स्वाभाविकी श्रद्धानुकूल 'भुक्ति' और 'मुक्ति' धर्म की अनुष्ठान प्रवृत्ति साधारण जीवों के लिये सहज होती है। तभी तो शास्त्र में कहा गया है—

ज्ञानतः सुलभा मुक्तिर्भुक्तिर्यज्ञादि पुण्यतः।
सेयं साधनसाहस्रैर्हरि भक्तिः सुदुर्लभाः॥

(भक्ति रसामृतसिन्धुधृत—तंत्रोक्ति।)

---

[१]—अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्ति योगेन यजेत पुरुषं परम्॥

(श्री भाः।२।३।१०)

अर्थ—सुख वासना शून्य एकान्त भक्त, या सर्व कामना युक्त कर्मी अथवा मोक्षकामना वाले ज्ञानी,—जो भी हों, वह यदि (महत्सङ्गादि के प्रभाव से) उदार बुद्धि हैं (अर्थात् सर्वोत्तमा भागवती-श्रद्धा के अधिकारी हैं) तो वह ऐकान्तिक भक्ति के साथ परम पुरुष श्री भगवान का ही भजन करेंगे।

(इस श्लोक में यह व्यक्त हुआ है कि इस विषय में श्रद्धा होने से ही सभी भक्ति के अधिकारी हो सकते हैं।)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उक्त श्लोक का तात्पर्य यह है कि— निष्काम कर्मादि के अनुष्ठान चित्त में निर्वेद उत्पन्न होने पर अर्थात् भुक्ति इच्छा न रहने पर अभेद ब्र चिन्तादिरूप ज्ञान मार्ग के साधन द्वारा मुक्ति 'सुलभ' हो जाती है; या सक कर्मोक्तयज्ञादि पुण्य के अनुष्ठान द्वारा इस लोक में सुख सम्पद और परलोक स्वर्गादि भोग या 'भुक्ति' सुलभ हो जाती है; किन्तु यह हरि भक्ति इस प्रक के हज़ारों साधनों द्वारा भी प्राप्त नहीं हो सकती है। अतएव जब तक अहैतु महत्सङ्गादि द्वारा जीव के हृदय में भागवती श्रद्धा उदय नहीं होती—पर आदर बुद्धि सहित—सर्वोत्तम समझकर भक्ति की अनुशीलन-प्रवृत्ति पैदा न होती, तब तक के लिये ही, जीव द्वारा अन्ततः गौण-प्रयोजन के साधन के लि भी समस्त वेदादि शास्त्रों को बाध्य होकर ही सचेष्ट होना पड़ा है। इसलि जीव के लिये अधोगति निरोधक और क्रमोन्नति-प्रापक 'भुक्ति' या कर्म का है, फिर उससे क्रमशः निवृत्त कराकर, विषय भोग में या भुक्तीच्छा में निर्वे उपस्थित होने से, उसकी अपेक्षा भी उन्नततर 'मुक्ति' या ज्ञान के पथ में जीवों को परिचालित करने के लिये वेदादि शास्त्रों का प्रयास देखा जाता है यही कारण है कि सभी शास्त्रों को जीव की स्वाभाविकी श्रद्धा अनुरूप तामसि कर्म से लेकर मुक्ति तक का उपदेश करना पड़ा है। श्री भगवान ने स्वयं उक्त व्यवस्था के ही पोषकरूप में श्रीमदुद्धव को लक्ष्य करके जीव को इ बात का उपदेश किया है, यथा—

तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धायावन्नजायते॥

(श्री भाः ११।२०।९)

इसका अर्थ—जब तक किसी विशेष भाग्य से (अहैतुक महत्संगादि द्वा हमारी कथा (श्री हरि के नाम-रूप-गुण-लीला कथा) के श्रवणादि में श्र (निर्गुणा-भागवती श्रद्धा) उदय न हो, या (मुक्ति प्राप्ति के उपाय स्वरू चित्त-शुद्धि द्वारा भुक्तीच्छा की विरतिरूप निर्वेद उपस्थित न हो, तब

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(स्वाभाविकी श्रद्धानुरूप यथाक्रम से) वेद विहित कर्म करते रहो। इससे यह समझ में आ गया कि भक्ति या भागवत धर्म ही समस्त शास्त्रों का मुख्य तात्पर्य तो है, किन्तु स्वप्रकाश भागवती श्रद्धा के सुदुर्लभता के कारण ही, कर्मादि की व्यवस्थाक्रम से संसार-कूप-मण्डूक जीव को 'भुक्ति' से क्रमशः 'मुक्ति'—समुद्र तक पहुँचाने की चेष्टा की गई है, परन्तु यह सब शास्त्रों का गौण अभिप्राय मात्र है।

कूप-मण्डूक (कूप का मेढक) जैसे सोचता है कि—कूप का विस्तार ही जगत की सीमा है; उसका यह अधिकार नहीं है कि—वह जगत का यथार्थ विस्तार अनुभव कर सके।

जगत का यथार्थ विस्तार अनुभव कराने के लिये जिस तरह उसे क्रमशः वृहत् से वृहत्तर जलाशय में स्थापन करते हुए अन्त में समुद्र में निक्षेप करना होगा—उसी तरह निम्नतम तामसिक अधिकारी को भुक्ति के पथ से क्रमशः सात्त्विक अधिकार में उन्नमित कराकर, या निष्काम कर्म के अनुष्ठान से, ज्ञान के अधिकार द्वारा 'मुक्ति' समुद्र में प्रतिष्ठित करने का सब शास्त्रों का गौण प्रयास है।

(श्री भाः ।७।११।३२ द्रष्टव्य)

ऐसा मुक्ति-रूपी महासागर भी जिस शुद्धाभक्ति के उदय होने से गोष्पद-जलतुल्य [1]तुच्छ बोध होता है—वही सब जीवों का मुख्य प्रयोजन है और सब शास्त्रों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

---

[1]त्वत्साक्षात्करणाह्लाद विशुद्धाब्धिस्थितस्य मे।
सुखानि गोष्पदायन्ते ब्राह्माण्यपि जगद्गुरो ।।
(हरिभक्ति सुधोदय। १४, ३६)

श्रीनृसिंह देव के प्रति प्रह्लाद की उक्ति—हे जगद्गुरु। तुम्हारे साक्षात्कार-जनित जिस विशुद्धानन्द समुद्र में मैं अवस्थित हूँ, उसकी तुलना में निर्विशेष ब्रह्मानन्द भी मुझे अब गोष्पद-जल की तरह बहुत ही अल्प बोध होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परतत्त्व की परिपूर्ण अनुभूति केवल शुद्धा भक्ति द्वारा ही साधित होती है।

ज्ञान और अष्टाङ्ग योगादि के साधन द्वारा परतत्त्व वस्तु का निर्विशे या आंशिक साक्षात्कार तो हो सकता है, किन्तु केवल शुद्धाभक्ति द्वारा परिपूर्ण साक्षात्कार लाभ किया जा सकता है—इस विषय में शास्त्र वा यथा—

यथेन्द्रियैः पृथग्द्वारैरर्थो बहुगुणाश्रयः।
एको नानेयते तद्वद्भगवान् शास्त्रवर्त्मभिः॥

(श्री भा: ३।३२।३३)

इसका अर्थ—जिस तरह बहुत गुणवाले एक क्षीरादि द्रव्य चक्षु इत्या पृथक्-पृथक् इन्द्रिय द्वारा विभिन्न रूप में परिगृहीत होते हैं, उसी तरह एक भगवान उपासना-भेद से नाना रूप में प्रतिभात होते हैं।

उक्त भागवतीय श्लोक में भक्ति की प्रधानता और पूर्णता गूढ़ भाव प्रतिपादित तो हुई है, किन्तु स्थूल दृष्टि से सब उपासनायें समान कहने भ्रम हो जाने की सम्भावना है। पूज्यपाद श्रीमद्रूप गोस्वामिकृत निम्नोद्ध कारिका से उक्त श्लोक का अर्थ यथार्थ रूप से समझ में आ सकता है यथा —

तत्तत् श्री भगवत्येव स्वरूपं भूरि विद्यते।
उपासनानुसारेण भाति तत्तदुपासके॥
यथा रूपरसादीनां गुणानामाश्रयः सदा।
क्षीरादिरेक एवार्थो ज्ञायते बहुधेन्द्रियैः॥
दृशा शुक्लो रसनया मधुरो भगवांस्तथा।
उपासनाभिर्बहुधा स एकोऽपि प्रतीयते॥
जिह्वयैव यथा ग्राह्यं माधुर्यं तस्य नापरैः।
यथा च चक्षुरादीनि गृह्णन्त्यर्थं निजं निजम्॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तथाऽन्या वाह्य करणस्थानीयोपासनाऽखिला ।
भक्तिस्तु चेतः स्थानीया तत्तत् सर्वार्थलाभतः ।
(लघुभागवतामृत १।४७७)

इसका अर्थ—एक भगवान में बहुत प्रकार के स्वरूप की विद्यमानता रहने पर भी उपासनानुसार प्रत्येक उपासक को तदुपयोगी स्वरूप का ही प्रकाश होता है ।

जिस तरह रूप-रसादि बहुत प्रकार के गुणवाले एक दुग्धादि द्रव्य पृथक् पृथक् इन्द्रिय द्वारा पृथक्-पृथक् रूप में प्रतीत होता हैं, अर्थात् चक्षु द्वारा शुक्ल, रसना द्वारा मधुर इत्यादि अनुभूत होता हैं, उसी तरह एक ही भगवान उपासना-भेद से बहुत प्रकार के प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार दुग्धादि की मधुरता केवल रसना ही ग्रहण करने में समर्थ हैं, दूसरी इन्द्रिय नहीं और जैसे चक्षुरादि इन्द्रियाँ रूप रसादि में से स्व-स्व विषय ग्रहण करने में समर्थ हैं, किन्तु चित्त समस्त इन्द्रियों के ग्राह्य विषय को ग्रहण करता है उसी तरह बहिरिन्द्रिय-स्थानीय अन्यान्य उपासनावर्ग केवल अपने उपयोगी स्वरूप को ही ग्रहण करने में समर्थ हैं,—किन्तु चित्त स्थानीया भक्ति अपनी उपासना के विषय के समस्त स्वरूप को ग्रहण कर सकती है । तभी तो भक्ति की ही सर्व श्रेष्ठता के सम्बन्ध में नारद-भक्ति सूत्रकार ने कहा है ।

"ॐ सा तु कर्मज्ञान योगेभ्योऽसधिकतरा ।"
(नारद-भक्ति—सूत्र २५)

इसका अर्थ—यह भक्ति, कर्म-ज्ञान और योग से भी श्रेष्ठ है ।

भक्ति या मुख्य प्रयोजन के विषय में श्रद्धा के अभाव के समय में ही गौण-प्रयोजन की व्यवस्था ।

भक्ति, साधन-जगत की महारानी-स्वरूपा तो है; किन्तु जिसे उसका अधिकार नहीं हुआ है, उसके लिये अपने अधिकारानुरूप साधनाश्रय ग्रहण करना ही सर्वथा युक्तिसंगत है । भक्ति या भागवत-धर्म में केवल श्रद्धालु

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होना या न होना ही उस विषय में अधिकार या अनधिकार का लक्षण है। इसके अतिरिक्त भक्ति के अनुशीलन में दूसरे किसी अधिकार का विचार न है। 'मृतसन्जीवनी' सर्वरोगहारिणी और जीवनदायिनी तो है; परन्तु जि लोगों ने उस विषय में श्रद्धान्वित होने का सौभाग्य लाभ नहीं किया, उनं लिये—जिनकी जैसी व्याधि है, उसके उपयुक्त दवा छोड़कर दूसरी दवा जै उपयोगी नहीं होती, उसी तरह जिनकी जैसी 'श्रद्धा' है उसके अनुरूप धर्म ह उनके लिए उपयुक्त और रुचिकर हुआ करता है। स्वभावानुरूप स्वधर्म अनुष्ठान से किंचित् चित्त शुद्ध होने पर, उससे ऊपर के धर्माचरण में क्रमश अधिकार लाभ होता है। तभी उसे उस धर्म की श्रेष्ठता की उपलब्धि हो है और उसके अनुष्ठान भी रुचिकर होते हैं। भक्ति स्वतंत्रा व सर्वश्रेष्ठा है भक्ति से अधिक या उसके समान कोई साधन नहीं है; क्योंकि सभी भक्ति अधीन,—भक्ति के अनुगत हैं। इसलिए यदि कोई भी व्यक्ति, किसी अवस्था में भक्ति महारानी की शरण ले सका तो इसमें सन्देह नहीं कि व साधन का चरम फल,—जो वेद-निर्दिष्ट मुख्य प्रयोजन है; लाभ कर सक है।—दूसरे साधनों के सभी फल भक्ति के आनुषङ्गिक फल रूप में ही प्राप्त हो जाते हैं। यथा,—

यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञान वैराग्यतश्च यत्।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ॥
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद्यदिवाञ्छति।

(श्री भाः ।११।२०।३२-३३)

इसका अर्थ,—कर्म द्वारा, तपस्या द्वारा, ज्ञान और वैराग्य द्वारा, यो द्वारा, दान-धर्म द्वारा अथवा अन्य तीर्थव्रतादि द्वारा जो कुछ लाभ होता है,— उनकी कोई इच्छा यद्यपि हमारे भक्त को नहीं रहती; तब भी यदि भजन पु के लिये वह कभी स्वर्ग, मोक्ष या उसके अतिरिक्त वैकुण्ठ लोक प्रभृति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रार्थना करता है, तो वह हमारी भक्ति योग द्वारा यह सब अनायास ही प्राप्त कर लेता है।

किन्तु यह बात पहले कही जा चुकी है कि भक्ति की यथार्थ महिमा उपलब्ध करके उसमें श्रद्धालु होकर एक मात्र उसका आश्रय ग्रहण करना,—किसी एक अनिर्वचनीय भाग्य सापेक्ष है।

मुख्य-प्रयोजन के आनुगत्य में ही, अधिकार या श्रद्धानुरूप स्वधर्म का अनुष्ठान करना ही वेदादि शास्त्र का विधान।

अधिकारी न होकर श्रेष्ठतर धर्म का अनुष्ठान अनिष्ट का कारण होता है। इसलिए पूर्वोक्त क्रम रीति ही वेद विहित है; किन्तु एक साथ ग्रहण-योग्य नहीं। अधिकारी होने पर भी यह स्मरण रखना चाहिये कि मनुष्यों की प्रबल भोग तृष्णा की अवस्था में—सकाम कर्म-प्रतिपादक वेद ग्रहणीय हैं, विषय भोग-सुख की क्षयिष्णुता और अल्पता अनुभव करने पर क्रमशः उसमें वितृष्णा उत्पन्न होने से—निष्काम-कर्म प्रतिपादक वेद ग्रहणीय हैं, इसके अनुष्ठान से चित्त के परिशुद्ध होने पर ज्ञान प्रतिपादक वेद ग्रहणीय हैं या जब किसी अवस्था में, यदृच्छालब्ध महत्कृपादि-लाभ द्वारा मोक्ष-इच्छा की भी विनिवृत्ति हो चुकी है, तभी ज्ञान-विशेष या भक्ति-प्रतिपादक वेद ग्रहणीय हैं; अधिकार के अनुसार इस प्रकार क्रम से उपदिष्ट वेद ग्रहणीय हैं, अनधिकारचर्चा सर्वथा परित्यज्य है। निम्नाधिकारी के लिये स्वधर्मानुष्ठान ही उसके क्रमोन्नति का कारण होता है। इसलिए श्री भगवान ने स्वयं ही गीता में कहा है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(गीता ३।३५)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसका अर्थ,— उत्कृष्ट परधर्मापेक्षा अपकृष्ट निज अधिकारानुरूप धर्म का अनुष्ठान ही आपाततः (तत्क्षण) श्रेयस्कर है। स्वधर्म के अनुष्ठान में मरण भी अच्छा है किन्तु (श्रद्धाहीन) परधर्म का अनुष्ठान भय देने वाला जानना चाहिये।

मुख्य-प्रयोजन की अवज्ञा या उसे अस्वीकार करने से किसी भी मङ्गल लाभ की संभावना नहीं।

अधिकारानुसार धर्म आचरणीय तो है, किन्तु मुख्य प्रयोजन को अस्वीकार या उसकी अवज्ञा करने से,—भक्ति की उपेक्षा करने से कोई भी साधना फल-प्रदान में समर्थ नहीं हो सकती। अधिकारी के लिये ऐसे साधन उस समय उपयोगी व उपादेय ज्ञात होने पर भी और उसका उस समय प्रयोजन होने पर भी, वह गौण प्रयोजन हैं; मुख्य प्रयोजन सर्वदा मुख्य रूप में ही अवस्थान करेगा। किन्तु जो वेदादि शास्त्र ने किसी-किसी स्थान में सकाम कर्मादि को मुख्य प्रयोजन की तरह निर्देश किया है, उसे तो केवल वैसे ही जानना चाहिये जैसे माता बालक को आरोग्य के कारण-स्वरूप औषधि सेवन कराने के निमित्त पहले थोड़ी मिठाई आदि द्वारा उसे प्रलुब्ध करती है।

वस्तुतः वेद-निहित सकाम कर्मादि ने भी परम्परा सम्बन्ध से भक्ति का ही निर्देश पूर्वक, एक मात्र उन्हीं भक्ति-ग्राह्य श्री भगवान की जयवार्ता घोषणा की है। "सर्वे वेदायत्पदमामनन्तीत्यादि" (कठोप० १।२।१५) अर्थात् सब वेद जो पूजनीय का कीर्तन करते हैं, इत्यादि श्रुति वाक्य ही इसका उज्ज्वल प्रमाण है। भक्ति का आसन सर्वदा सर्वोपरि विराजित है। भक्ति का सम्बन्ध छोड़कर भवरोग से मुक्त होने का कोई उपाय नहीं है। जैसे राजा की अवज्ञा करके राज कर्मचारियों की शरण लेने से किसी भी सुफल प्राप्ति की आशा नहीं की जा सकती, किन्तु राजद्वेषी न होने से राजकर्मचारी लोग अपने सेवकों को अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार, पुरस्कार आदि प्रदान करते

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में समर्थ होते हैं, वैसे ही महारानी स्वरूपिणी भक्ति की अवज्ञा करने वाले व्यक्ति को, भक्ति के अधीन दूसरे साधनों का आश्रय ग्रहण करने पर भी, वह सब साधनायें साधक के साधनानुरूप पुरस्कार प्रदान करने में समर्थ नहीं होती, अपितु तिरस्कार-स्वरूप विपरीत फल ही प्रदान करती हैं। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यदि भक्ति के अनुगत होकर, साधक अपने अधिकार के अनुसार, भक्ति के अधीन किसी भी साधना का आश्रय ग्रहण करे, तो अवश्य सुफल प्राप्त करेगा और जो साक्षात् राजभक्त या राजा के सेवक हैं उन्हें पुरस्कारादि जिस तरह स्वयं राजा द्वारा ही दिया जाता है राजकर्मचारियों की कोई भी अपेक्षा नहीं की जाती, उसी तरह जो साक्षात् भक्ति रानी के सेवक हैं, उन्हें पुरस्कार की प्राप्ति के लिये दूसरे साधना की कोई भी अपेक्षा नहीं करनी पड़ती। भक्ति रानी भक्त को श्री भगवत्-सेवारूप श्रेष्ठतम पुरस्कार प्रदान करती है—जिन्हें सालोक्यादि मुक्ति भी तुच्छातितुच्छ मालूम होती है। शास्त्र वाक्य यथा,—

सालोक्य सार्ष्टि सामीप्य सारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न ग्रहणन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥
(श्री भा: ३,२९,१३)

इसका अर्थ—कपिलदेव ने माता से कहा, हे माता! हमारे भक्त लोग केवल हमारी सेवा को छोड़कर, हमारे साथ एक लोक में वास, हमारे समान ऐश्वर्य, हमारे समान रूप, हमारे समीप अवस्थान, हमारे संग सायुज्य—इन पांच प्रकार की मुक्ति प्रदान किये जाने पर भी ग्रहण नहीं करते।

इसलिये यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि अधिकारानुरूप कर्म, ज्ञान, योग, किसी भी साधना के अनुष्ठान द्वारा जीव का यथोपयुक्त मंगल लाभ हो सकता है,—यदि वह साधन किसी रूप में भी भक्ति की अवज्ञापूर्वक अनुष्ठित नहीं होता।

उक्त उद्देश्य की ओर लक्ष्य रखकर समस्त शास्त्र वाक्य परिकीर्तित हुए

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हैं। तभी तो देखने में आता है कि, कर्मकाण्ड में यज्ञादि की प्रधानता परि-लक्षित होने पर भी समस्त यज्ञादि के साथ यज्ञेश्वर हरि ही जययुक्त हैं। तभी तो व्रत, श्राद्धादि नित्य और नैमित्तिक कर्म समूह के अनुष्ठान में मन्त्रों के साथ भक्ति का प्रधान अङ्गस्वरूप श्रीभगन्नाम सर्वत्र जययुक्त रहता है। शास्त्रवाक्य यथा,—

मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः।
सर्वं करोति निश्छिद्रं नामसंकीर्तनं तव॥
(श्री भाः ८।२३।१६)

इसका अर्थ—मन्त्र में स्वरभ्रंशादि द्वारा, तन्त्र में क्रमविपर्य्यादि द्वारा और देश, काल, पात्र और वस्तु में अशौचादि और दक्षिणादि द्वारा जो सब दोष हो जाते हैं, वह सभी श्रीभगवन्नाम कीर्तन से निर्दोष हो जाया करते हैं।

भक्ति-सम्बन्ध-वर्जित कर्म-ज्ञानादि का अनादर।

वर्णाश्रमाचाररूप स्वधर्म या कर्मकाण्डोक्त सभी धर्म यदि भक्ति-सम्बन्ध को छोड़ कर अनुष्ठित होते हैं तो वह अधर्म ही की तरह नीचे गिराते हैं;

शास्त्रवाक्य यथा,—

मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक्॥
य एषां पुरुषं साक्षादात्म प्रभवमीश्वरम्।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद् भ्रष्टाः पतन्त्यधः॥
(श्री भाः ११।५।२—३)

इसका अर्थ,—"विराट पुरुष के मुख, बाहु, जङ्घा और चरण से सत्त्वादि गुणों के तारतम्यानुसार पृथक्-पृथक् चार वर्णों और आश्रमों की उत्पत्ति हुई है। जो उक्त समस्त वर्णाश्रमों के साक्षात् जनक-स्वरूप ऐश्वर्यशाली पुरुष को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं भजते वह उस पुरुष की अवज्ञा ही करते हैं, इसलिये कर्म लब्ध अधिकार से च्युत और अधःपतित होते हैं।"

ज्ञानकाण्ड के सम्बन्ध में भी यही बात है। जो ज्ञान, भक्ति-सम्बन्ध वर्जित है, वह मङ्गल कर न होकर प्रवल अनर्थ का ही कारण होता है। इस विषय में श्रुति ने स्वयं ही कहा है—

अंधं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥
(ईश।९)

इसका अर्थ,—जो लोग अविद्या अर्थात् भक्तिवर्जित कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, वह लोग घोर तामस लोक में जाते हैं; और जो लोग भक्तिवर्जित ज्ञान में रत हैं, वह लोग उसकी अपेक्षा और घोरतरतामस लोक में गमन करते हैं। श्रीमद्भागवतोक्त ब्रह्मवाक्य; यथा,—

आर्य ग्रन्थालय ...

श्रेयः सृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवल बोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद्यथा स्थूल तुषावघातिनाम्॥
(श्रीभाः १०।१४।४)

इसका अर्थ,—"जिसकी कृपा से अभ्युदय व अपवर्ग प्रभृति सब प्रकार का मङ्गल ही लाभ हुआ करता है, हे विभो! तुम्हारी ऐसी भक्ति को परित्याग करके जो लोग केवल ज्ञानलाभार्थ कष्ट स्वीकार करते हैं, जो लोग तुम्हारा सर्वेश्वरत्व अस्वीकार करके केवल आत्मज्ञानलाभार्थ चेष्टा करते हैं, उन्हें कुछ भी लाभ नहीं होता, उनकी सत्ता मात्र अवशिष्ट रह जाती है; और कुछ भी संचय नहीं होता, केवल स्वाभाविक सत्ता ज्ञान ही रह जाता है, इसलिये यही कहना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पड़ेगा कि धान की थोथी भूसी कूटने वाले की तरह उन्हें क्लेश मात्र ही ला[भ] होता है।"

शास्त्रों का सारांश यह है कि, मन्त्री का मन्त्र, तपस्वी का तप, कर्मी [का] कर्म, ज्ञानी का ज्ञान, योगी का योग, भक्ति के सम्बन्ध विना कभी सुफल प्रदा[न] नहीं कर सकते। भक्ति ही साधन-जगत की महारानी है; भक्ति ही सर्वप्रधा[न] साध्य व साधना है। कर्म, ज्ञान और योग—सभी भक्ति मुखापेक्षी हैं; इसलि[ये] इनके फल भी भक्ति फल की तुलना में अति तुच्छ हैं।

"भक्तिमुख—निरीक्षक—कर्म, योग, ज्ञान ॥
एइ सब साधनेर अति तुच्छ फल।
कृष्ण भक्ति विने ताहा दिते नारे बल ॥"

(श्री चै:।म: २२)

भक्ति ही सब साधनाओं और सब सिद्धियों की जीवन स्वरूपिणी है [।] प्राणहीन देह जिस तरह वर्जनीय है, उसी तरह भक्ति सम्बन्ध रहित साधन सर्वदा परित्यज्य है। शास्त्र वाक्य यथा,—

जीवन्ति जन्तवः सर्वे यथा मातरमाश्रिताः ।
तथा भक्ति समाश्रित्य सर्वा जीवन्ति सिद्धयः ॥

(ह: भ: वि: ११।५६६ धृत वृहन्नारदीय वाक्य)

इसका अर्थ,—जिस तरह जीवगण माता को अवलम्वन करके जीव[न] धारण करने में समर्थ होते हैं, उसी तरह भक्ति का आश्रय करके सब सिद्धि[यां] भी जीवन धारण किया करती हैं।

जिस तरह स्वामी का सम्बन्ध त्याग करके, स्वामी के आत्मीय पुरुषों [की] सेवा कुल स्त्री के लिये व्यभिचार के समान है, उसी तरह भक्ति का सम्ब[न्ध] वर्जित होने से, श्रुति-स्मृति विहित निखिल कर्म भी व्यभिचार में परिणत [हो] जाते हैं। इस विषय में शास्त्र वाक्य, यथा,—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विष्णु भक्ति विहीनानां श्रौताः स्मार्त्ताश्चक्रियः ।
काय क्लेश फलं तासां स्वैरिणी व्यभिचारवत् ।।

इसका अर्थ,—विष्णु भक्ति विहीन होने से, श्रुति और स्मृति शास्त्र वर्जित सभी कर्म कुलटा की तरह व्यभिचार युक्त ही होते हैं; अतएव उनके अनुष्ठान का फल केवल कष्ट मात्र ही जानना चाहिये ।

उसी तरह शास्त्रानुशीलन—जो विद्या, भक्ति के प्राप्त करने में अनुकूल न हो,–भक्ति की महिमा उपलब्धि न कराये, तो यह अवश्य ही जानना चाहिये कि वह विद्या अतिशय निकृष्टा है। शास्त्र वाक्य, यथा,—

अन्तं गतोऽपि वेदानां सर्व शास्त्रार्थ वेद्यपि ।
यो न सर्वेश्वरे भक्तस्तं विद्यात् पुरुषाधमम् ।।
(हः भः विः १०।३०३ धृत गारुड़ वाक्य)

इसका अर्थ,—वेद का अन्त पाकर भी और सब शास्त्रों का अर्थ जानकर भी यदि श्री हरि में भक्ति नहीं हुई, तो उसे पुरुष अधम ही जानना चाहिये ।

यहाँ तक कि, जिन शास्त्रों में भक्ति-सम्बन्ध वर्जित हुआ है, जिनमें भक्ति की प्रतिकूलता दिखाई देती है, वह शास्त्र शास्त्र कहे जाने योग्य नहीं हो सकते । ब्रह्मा की तरह भी यदि कोई उनका रचयिता है, तब भी ऐसे शास्त्र अनुशीलन के योग्य नहीं हैं, यह शास्त्र का ही अनुशासन है; यथा,—

यस्मिन् शास्त्रे पुराणे वा हरिभक्तिर्न दृश्यते ।
श्रोतव्यं नैव तत्शास्त्रं यदि ब्रह्मा स्वयं वदेत् ।।
(जैमिनि भारत)

इसका अर्थ,—जिन शास्त्रों में या जिन पुराणादि में हरिभक्ति परिदृष्ट न हो, तो ऐसे शास्त्र यदि स्वयं ब्रह्मा द्वारा भी कीर्तित हैं, तो भी सुनने योग्य नहीं हैं ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्ति ही सर्व-शास्त्र वन्दनीया और सर्व निरपेक्ष साधन।

अतः यह सर्वशक्ति समन्वित स्वयं भगवत्-साक्षात्कार कराने वाली भ ही वेदादि सब शास्त्रों की वन्दनीया है। वेद का मुख्य प्रतिपाद्य और जीव परम पुरुषार्थ—इस परम शुद्धा और महामहिमान्विता भक्ति के उद्देश्य से सब शास्त्रों का विधि-निषेध प्रकीर्त्तित हुआ है। इस बात की उपलब्धि कि सूक्ष्म भाव से चिन्ता करके देखने से ही हो सकती है। शास्त्र में कहा है,—

स्मर्त्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्त्तव्यो न जातुचित् ।
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्कराः ।।

(पद्म पुराण उत्तर खण्ड, ४२ अः वृहत् सहस्र नाम स्तोत्र ६७ श्लोक

इसका अर्थ,—सर्वदा श्रीहरि का ही स्मरण करना, कभी उन्हें न भूल सब शास्त्रों में जो भी विधि और निषेध है, वह सब उक्त विधि - निषेध दो के ही अधीन हैं।

इन समस्त शास्त्र—निर्देश से हम यह समझ सकते हैं कि जिन्हें सम वेद रूपी वृक्ष के सारफल भक्ति की सेवा का अधिकार लाभ नहीं हुआ, उन लिये भक्ति के अधीन कर्म ज्ञानादि दूसरे सब साधनों का अनुष्ठान भक्ति आनुगत्य में ही विशेष भाव से करना कर्त्तव्य है; किन्तु जो भक्ति के अधिका हैं, वह दूसरे किसी भी धर्म के,—दूसरे किसी भी विधि-निषेध के अधीन न हैं। तभी तो सब शास्त्रों का सार मर्म यह है कि, हे जीव! यदि श्री भगवद्वशीक हेतु भूता भक्ति रानी के सर्वाभीष्टिप्रद अभय चरणाम्बुज एकान्त भाव वक्ष में धारण कर सकते हो, तो फिर उनके परिजन-स्वरूप दूसरे धर्म—दू साधना के चरणाश्रय करने का प्रयोजन क्या है ? किन्तु जब तक भक्तिरा का सन्धान न पाओ, तब तक उनकी ही कृपा पाने के लिये, अपने अधिकार नुसार उनके परिजनों की चरण-सेवा में लगे रहो। इस उद्देश्य को व्य करने के लिये ही वेदादि शास्त्रों का विभाग किया गया है,—इस उद्देश्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रति लक्ष्य करके ही वेदादि शास्त्रों ने सब विधि और निषेध वर्णन किये हैं। इसलिये जिन्हें किसी अनिर्वचनीय भाग्योदय होने से भक्ति देवी की सेवा का अधिकार प्राप्त हो गया है, उनके लिये तो तब कर्म, ज्ञान, योग यहाँ तक कि वर्णाश्रमादि सर्व-धर्मानुष्ठान भी निष्प्रयोजनीय हैं,—किन्तु कोई भी अवज्ञा के योग्य नहीं हैं।

भक्ति या भागवत-धर्म ही सर्वगुह्यतम विद्या।

सर्वोपनिषत्सार गीता में करुणामय श्रीभगवान ने अर्जुन को लक्ष्य करके जगत को इसी तत्त्व का उपदेश किया है। यही समस्त गीता का सार है, इसीलिये इसको ही अपने सभी उपदेशों में "सर्वापेक्षा गुह्यतम परम वाक्य" बताकर श्री भगवान ने प्रतिज्ञापूर्वक उल्लेख किया है; यथा

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि में दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।
सर्वं धर्मान्परित्यज मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८।६४-६६)

इसका अर्थ,—"सर्वापेक्षा गुह्यतम हमारा परम वाक्य फिर सुनो। तुम हमारे प्रिय हो, हमारे वाक्य पर दृढ़ विश्वास रखते हो, इसलिये हम तुम्हारे हित की बात कहेंगे। तुम हम में चित्त लगाओ, हमारे भक्त बनो और हमारा अर्चन (पूजन) करो; हमें नमस्कार करो; हमें ही प्राप्त करोगे। हम प्रतिज्ञा करके कहते हैं, तुम हमारे प्यारे हो! तुमने जिन हमारी पूर्व आज्ञा को धर्म समझकर स्थिर किया है, उन सभी धर्मों का परित्याग करके एक मात्र हमारी ही शरणापन्न हो। हमारी इस शेष आज्ञा को ही बलवती

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समझकर ग्रहण करो। हम तुम्हें इन सब धर्मों के त्याग के कारण जो हैं उनसे मुक्त कर देंगे; तुम शोक न करना।"

मीमांसा शास्त्र का यही नियम है कि पूर्व विधि की अपेक्षा परवि बलवान् होती है।

तभी तो श्रीचरितामृतकार ने लिखा है,—

पूर्व आज्ञा वेद-धर्म, कर्म, योग, ज्ञान।
सब साधि शेषे एइ आज्ञा बलवान॥
एइ आज्ञाबले भक्त्ये श्रद्धा यदि होय।
सर्व कर्म त्याग करि से कृष्ण भजय॥
(श्री चैः २।२२।३६)

एक मात्र भक्ति के उदय होने से ही समस्त विधि निषेध बन्धन टूट जाता है।

इसलिये उस समय तक ही वेदोपदिष्ट धर्म-कर्मादि की सार्थकता जब तक कि भक्ति देवी की सेवा का अधिकार प्राप्त नहीं होता है। शुद्ध भक्ति का अधिकारी होने से जीव फिर किसी विधि-निषेध का वाध्य नहीं है। जिनके लिये सब विधि व निषेध हैं, उसके आश्रय में उपनीत होने पर सब आप ही क्षीण हो जाते हैं। एक मात्र भक्ति के अनुष्ठान से सभी अनुष्ठान सुसम्पन्न होते हैं। जो भक्ति के अनुष्ठाता हैं, वह श्री हरि को छोड़कर किसी के ऋणी नहीं हैं, वास्तविक स्वाधीनता उन्हीं को है। तभी तो शा ने कहा है,—

देवर्षि भूताप्त नृणां पितृणां।
न किङ्करो नाय मृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं।
गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तुम्॥
(श्री भाः ११।५।४१)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अर्थात् जो शास्त्र-विहित कर्मों का परित्याग करके सम्पूर्ण रूप से शरणागत-प्रतिपालक मुकुन्द के शरणापन्न हो गये हैं, वह देव, ऋषि, प्राणी, कुटुम्ब और पित्रादि के फिर ऋणी रहते नहीं; श्री भगवद्दास दूसरे किसी का भी भृत्य नहीं होता।

उक्त सब शास्त्र वाक्य का सार मर्म यह है कि, स्वधर्म त्याग करने से ही लोग शुद्धा भक्ति के अधिकारी नहीं हो जाते; अपितु यदृच्छा-लब्ध शुद्धा भक्ति का अधिकार उत्पन्न होने से सब स्वधर्म आप ही छूट जाते हैं। जो लोग भक्ति के अधिकारी हैं, उनका कोई दूसरा कृत्य न रहने पर भी कहीं कहीं उन्हें कर्म करते देखा जाता है, उससे यह समझना चाहिये कि उनका उद्देश्य केवल यही है कि निम्नाधिकारियों की बुद्धि विचलित न हो और वह लोग स्वधर्म में लगे रहें[1]।

मुख्य या परमधर्म भक्ति के संयोग और वियोग के अनुसार ही समस्त धर्माधर्म का विचार।

यह कहना ही यथेष्ट होगा कि धर्माधर्म जो कुछ शास्त्र में उक्त हुआ है, वह सभी एक मात्र भक्ति के उद्देश्य में ही पर्यवसित है। भक्ति का परित्याग करके जो सब धर्म-कर्म किये जाते हैं, उन्हें अधर्म ही जानना चाहिये, और भक्ति में जिन्हें अधिकार प्राप्त हो चुका है, उनका आचरित अधर्म

---

[1]यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनु वर्तते ॥
(गीता, ३।२१)

अर्थ,—श्रेष्ठ व्यक्ति जो आचरण करते हैं, साधारण लोग उनका ही अनुष्ठान किया करते हैं और महत् लोग जो कुछ प्रमाण कर देते हैं, साधारण लोग भी उसके अनुसार बर्तते हैं; इसलिये तुम लोक-रक्षा के लिये कर्मों का अनुष्ठान करते रहो।

३

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भी धर्म हो जाता है, इसलिये भक्ति का सर्वोत्कर्ष और भक्ति की मुख्य प्रयोज नीयता जानने के लिये और अधिक प्रमाण की क्या जरूरत है ? शास्त्र ने कहा है,—

धर्मो भवत्यधर्मोऽपि कृतो भक्तैस्तवाच्युत ।
पापं भवति धर्मोऽपि तवाभक्तैः कृतो हरे ।।
(हः भः विः १०।६१ धृत स्कन्द रेवाखण्ड)

इसका अर्थ,—हे हरे ! आपके भक्त का किया हुआ अधर्म भी धर्म निमित्त हो जाता है; और आपके अभक्त का किया हुआ धर्माचरण पाप मानं योग्य होता है ।

तभी तो देखने में आता है कि भक्ति-सम्बन्ध छोड़कर, तपस्या, ज्ञा और योगादि का प्रबल अनुष्ठान करने पर भी, रावण, बाण, वृ पौण्ड्रक, कंस, क्रौञ्च, अन्धक, प्रभृति नृपतिगण अपने व जगत के अमंग स्वरूप ही हुए और उनकी गिनती असुरों में ही हुई हैं, और दूसरी तर केवल भक्ति का सम्बन्ध लाभ करके, बच्चा होने पर भी ध्रुव, विद्याहीन हो पर भी गजेन्द्र, कुरूपिणी होने पर भी कुब्जा, निर्धन होने पर भी सुदामा वि वंशगौरव-वर्जित होने पर भी विदुर, और शौर्यहीन होने पर भी उग्रसेन भगवान को प्राप्त करके समस्त जगत द्वारा प्रणाम किये जाने योग्य औ मंगल-स्वरूप हुए हैं । न तो ज्ञान की अपेक्षा है, न योग की अपेक्षा,— देवता, गन्धर्व, मनुष्य, पशु, स्थावर, जंगम,— जो भी हो,—विद्याहीन, ध हीन, रूपहीन, गुणहीन, सर्वस्वविहीन होने पर भी यदि उन्होंने किसी भाग्य केवल इस विषय में श्रद्धालु होकर भक्ति का आश्रय ग्रहण किया है, तो व पूर्णकाम हो गये हैं, उन्होंने ही सर्वाभीष्ट लाभ कर लिया है—जगत को औ अपने को धन्य कर दिया है । अहो ! भक्ति की ऐसी महिमा ! जाति, विद्या रूप, कुलादि किसी की कुछ भी अपेक्षा न करके, सर्व-निरपेक्ष भक्ति र अपने अनुगत जनों को सर्वाभीष्ट प्रदान करती हैं ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तभी तो नारद जी ने अपने भक्ति सूत्र में कहा है—उं नास्ति तेषु जाति विद्यारूपकुल धनक्रियादिभेदः। (७२) अर्थात् भक्त की जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रियादि किसी की भी अपेक्षा नहीं है। उं स तरति स तरति स लोकान्तारयतीति ॥ (५०) अर्थात् यह बात नहीं है कि वह लोग स्वयं ही उद्धार हो जाते हैं किन्तु सब लोगों की रक्षा भी किया करते हैं। उं मोदन्ति पितरो-नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति ! (७१) तब उनके सौभाग्य से पितृ लोग आनन्दित होते हैं, देवता नृत्य करते हैं, यह पृथ्वी अपने को सनाथा समझती है।

भारतीय आर्य और आचार्यगण सभी भक्ति के शरणार्थी थे।

तभी तो शास्त्र में देखा जाता है कि भारत के सर्वप्रधान गौरव के वस्तु,—प्राचीन आर्य ऋषियों में ऐसा कोई नहीं था, जिसने अमला भक्ति का आश्रय ग्रहण न किया हो। ब्रह्मादि देवगण से लेकर; चतुःसन, नारद, विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गौतम, अत्रि, शुक, व्यास, वशिष्ठ, पिप्पलायन, आर्विहोत्र, कश्यप, भृगु, लोमहर्षण; शौनक, गर्ग, दालभ्य, वैशम्पायन, अङ्गिरा, पराशर, पौलस्त्य, मार्कण्डेय, अगस्त्य प्रभृति सभी परम भागवत थे, इस सब ने भक्ति की महिमा प्रचार की है।

भक्ति ही भुवन-मान्य ब्राह्मणों का स्वधर्म है। शास्त्रोक्ति यथा,—

ब्राह्मणानां स्वधर्मश्च सन्ततं कृष्णसेवनं।
नित्यं ते भुन्जते सन्तस्तनैवेद्यं पदोदकम् ॥
(श्री नारद-पञ्चरात्र १।२।४२)

इसका अर्थ,—ब्राह्मणों का स्वधर्म है—निरन्तर श्री कृष्ण सेवा; ऐसे साधु लोग प्रतिदिन उनका नैवेद्य और पदोदक सेवन करते हैं।

शिव—परम वैष्णव—परम भक्त; वैष्णवानां यथा शम्भुः" (श्री भाः १२।१३।१६) इसलिये वह भक्त के उज्ज्वल दृष्टान्तस्थल हैं। पार्वती—महा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वैष्णवी हैं; उनका गौरव का नाम नारायणी है। वह श्रीकृष्ण के इच्छानुरू कार्य में ही सदा लगी रहती हैं,[१] सूर्य ने श्री हरि को अपने हृदय में ही धारण कर रक्खा है। आदित्य-मण्डलान्तर्गत पुरुष उन्हीं भगवान के तेज से ही ज्योतिर्मय होकर जगत को प्रकाशित करता है।[२] विघ्न विनाशक गणपति प्रणाम करते समय श्री भगवत्पादपद्म-युगल अपने मस्तक के दोनों कुम्भ

---

[१]सृष्टिस्थिति प्रलयसाधनशक्तिरेका,
छायेव यस्य भुवनानि विभर्ति दुर्गा।
इच्छानुरूपमपि यस्य च चेष्टते सा,
गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि ॥
(ब्रह्मसंहिता ५।४४)

अर्थ,—चिच्छक्ति की छाया-स्वरूपिणी—प्रापञ्चिक जगत की सृष्टि-स्थिति प्रलय-साधिनी, मायाशक्ति की अधिष्ठात्री भुवन पूजिता 'दुर्गा,—जिनकी इच्छानुवर्तिनी होकर कार्य करती है,—उन्हीं आदि पुरुष श्री गोविन्द का भजन करता हूँ।

[२]यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥
(गीता ।१५।१२)

अर्थ,—सूर्य में जो निखिल भुवन-प्रकाशक-तेज है, चन्द्रमा में और अग्नि में जो तेज है वह हमारा ही तेज जानो !

यच्चक्षुरेष सविता सकलग्रहाणां राजा समस्तसुर मूर्त्तिरशेष तेजाः।
यस्याज्ञयाभ्रमति संभृतकालचक्रो गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि ॥
(ब्रह्म संहिता । ५।५२)

अर्थ,—सर्वलोकचक्षु सूर्य के भी चक्षु अर्थात् प्रकाशक—सब ग्रहों के राजा, देवमूर्ति, अशेष तेजोदीप्त सूर्य जिनकी आज्ञा से काल चक्रारूढ़ होकर भ्रमण करते हैं,—उन्हीं आदि पुरुष गोविन्द का मैं भजन करता हूँ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पर धारण करके तीनों जगत के विघ्नों के नष्ट करने में समर्थ होते हैं;[१] इसलिये यह परिचय देना अनावश्यक है कि वह भी परम भक्त हैं।

-ज्ञानि-गुरु और योगीश्वर का भी भक्ति का आनुगत्य।

ज्ञानि-गुरु आचार्य शंकर के जगत-विख्यात अद्वैतवाद का प्रकृत मर्म हम उतना समझ सकें या न भी समझ सकें, किन्तु यह बात तो समझ में आही जाती है कि उन्होंने ज्ञानी श्रेष्ठ होकर भी भक्ति का अनादर या उसकी उपेक्षा नहीं की; क्योंकि हम देखते हैं कि उन्होंने गोविन्दभजन हीन मूढ़मतियों को पुकार कर "भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढ़मते" (चर्पटपञ्जरिका स्तोत्र) का उपदेश प्रदान किया है। भक्ति का प्रधान भजनाङ्ग श्री भगवन्नाम की शरण छोड़ देने से अपना अभीष्ट अपूर्ण रहता है, ऐसा समझकर जिन्होंने श्री विष्णु के सहस्रनाम स्तोत्र के भाष्यकरणोपलक्ष में श्रीनामाश्रय ही किया है, उनके लिये यह कैसे स्वीकार किया जाय कि उन्होंने भक्ति का आश्रय ग्रहण नहीं किया? दूसरों के लिये वह जो भी मतवाद प्रचार करें, परन्तु परम वैष्णव श्री शम्भु के अवतार—श्री शंकराचार्य का, अपने लिये, भक्ति का

---

[१]यत्पाद पल्लवयुगं विनिधाय कुम्भ
द्वन्द्वे प्रणाम समये स गणाधिराजः।
विघ्नान् विहन्तुमलमस्य जगत्त्रयस्य,
गोविन्द मादि पुरुषं तमहं भजामि॥

(ब्रह्मसंहिता—५।५०)

अर्थ,—त्रिजगत के विघ्नों के नष्ट करने के निमित्त गणपति, अपने इस कार्य में शक्ति प्राप्त करने के लिये जिनके पाद-पद्म अपने मस्तक के दोनों कुम्भों पर सर्व समय धारण किये रहते हैं,—उन्हीं आदि पुरुष श्रीगोविन्द का मैं भजन करता हूँ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आश्रय ग्रहण करना कुछ विचित्र बात नहीं है,—तत्कृत निम्ननोक्त श्लो इसका सुस्पष्ट प्रमाण है;—

सत्यपि भेदापगमे नाथ ! तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ।।

अनुवाद—"जगत में और तुम में भेद न रहने पर भी, हे नाथ। हम जानते हैं कि हम आपके ही अधीन हैं—हमने आपसे ही जन्म ग्रहण किया है, किन्तु आप हमारे अधीन नहीं हैं,—आप हमसे उत्पन्न नहीं हुए। तरंग और तरंगमय समुद्र में परस्पर पार्थक्य न होने पर भी, यह सुनिश्चित है कि तरंग तो समुद्र का है किन्तु समुद्र तरंग का नहीं।[१]" (षटपदी स्तोत्र)

अष्टाङ्गयोग के महागुरु भगवान पतंजलि ने, योगिशिरोमणि होने पर भी, भक्ति की शरण ली है,—उनके योगशास्त्र के निम्नलिखित सभी सूत्र इसका यथेष्ठ प्रमाण है; यथा,—

"ईश्वर-प्रणिधानाद्वा ।।"[१] इस सूत्र में भागवद्भक्ति का प्राधान्य कीर्तित हुआ है। तस्य वाचकः प्रणवः'[२] और "तज्जपस्तदर्थं भावनम्।"[३] इन दोनों सूत्रों में भक्ति का प्रधान अंग जो नामाश्रय है, वही सूचित हुआ है। "तपः स्वाध्यायेश्वर-प्रणिधानानि क्रिया योगः ।"[४] इस सूत्र में श्री भगवान् में कर्म-फलार्पण व्यक्त हुआ है; इस तरह भक्ति के प्राधान्य ज्ञापक बहुत सूत्रों से उक्त योगशास्त्र विभूषित है; बहुत हो जाने के भय से और अधिक नहीं लिखे गये।

---

[१]प्रभुपाद श्रीमत् अतुलकृष्ण गोस्वामि-सम्पादित 'श्री चैतन्य भागवत। अन्त्य३य अध्याय से उद्धृत'।

[१],—योगसूत्र—१।२३; २,—ऐ १।२७; ३,—ऐ १।२८; ४,—ऐ २।१;

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अतएव इन भक्तिवश पुरुष—श्री भगवान और उनका साक्षात्कार कराने वाली भक्ति ही वेदादि निखिल शास्त्रों का मुख्य तात्पर्य है,—भक्ति ही श्रुति-स्मृति-पुराणादि सब शास्त्रों की सर्वसार सम्पद है—भक्ति ही सब जीवों का परम प्रयोजन या पुरुषार्थ शिरोमणि है, इसके प्रमाण के विषय में निम्नोक्त विषय से अधिक उल्लेख निष्प्रयोजन है।

समस्त वेद जिनसे प्रादुर्भूत हुए हैं, उन सर्वादि-कारण श्री भगवान के अतिरिक्त वेद का यथार्थ अभिप्राय दूसरे किसी को भी ज्ञात होना सम्भव नहीं।

निःश्वास की तरह अवलीला क्रम से (अनायास) वेद जिनसे प्रकट हुए हैं,[१] एक मात्र उन देवमय पुरुष—श्री भगवान को छोड़कर, देवता, महर्षि, या मनुष्यादि जो भी हों, किसी को भी वेद का यथार्थ अभिप्राय अवगत नहीं है। क्योंकि वहीं सब के आदि कारण हैं। उनका आदि दूसरा कोई या कुछ नहीं है;—यह बात स्वयं श्री भगवान ने अपने श्री मुख से ही श्री गीतामें घोषित की हैं; यथा,—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥
(१०।२)

१,—"अस्य महतोभूतस्य निश्वसितमेतद् यदृग् वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः इतिहासः पुराणम्।"—

(बृहदारण्यके २।४।१०)

अर्थ,—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्व वेद, इतिहास और पुरांण प्रभृति उन व्यापक और पूज्य परमेश्वर के निःश्वास-स्वरूप हैं जो उनसे अवलीला क्रम से प्रकट हुए हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसका अर्थ,—मेरा प्रभाव सुरगण या महर्षिगण कोई भी नहीं जानते क्योंकि देवता और महर्षियों की उत्पत्ति और बुद्धि आदि के प्रवर्तन (प्रेरणा) सम्बन्ध में मैं ही आदि-कारण हूँ।

इसलिये यही सूचित होता है कि उनकी अनुग्रह बिना, उन्हें कोई जा नहीं सकता। (श्री स्वामिपादकृत टीका का तात्पर्य।)

तभी तो शास्त्र में कहा गया है,—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारण कारणम्॥

(ब्रह्मसंहिता ५।१)

इसका अर्थ,—सच्चिदानन्द—मूर्ति श्री कृष्ण ही परमेश्वर हैं। श्री गोविन्द ही सब अनादि के भी आदि और सब कारणों के भी सर्वमू कारण हैं।

अतएव यह समझना अब कठिन नहीं रह जाता कि जो सब के आ कारण हैं, एक मात्र उनके अतिरिक्त उनके निःश्वास स्वरूप वेद से वेद प्रकृष्ट मर्म जानना,—देव, ऋषि, मनुष्यादि समस्त जीवों के लिये दुःसा व्यापार है।

निःश्वास ध्वनि से श्री मुख की वाणी सुस्पष्ट होती है; "गीता" उन श्री भगवान की सुस्पष्ट वाणी और वेद का संक्षिप्त सारार्थ है।

यह आसानी से अनुमान किया जा सकता है कि अस्पष्ट निश्वास-ध्व से साक्षात् श्री मुख की वाणी अवश्य ही सुस्पष्ट होगी। विशेषतः जैसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पुस्तक देखकर मूल ग्रन्थ का दुर्वोध तात्पर्य अवगत हो जाता है, वैसे ही अस्पष्ट वेद का सुस्पष्ट और सारार्थ ही है—"श्रीमद्भगवद्गीता,"—यह श्री भगवान की ही साक्षात् श्री मुख की वाणी है। यही कारण है कि गीता के भाष्यकारों में अनेकों ने गीता को वेद का सारार्थ कहकर ही निर्देश किया है। आचार्य श्री शंकर ने भी कहा है,—

—"तदिदं गीता शास्त्रं समस्तवेदार्थसार --
संग्रहेत्यादि—।" (गीता भाष्य सूचना।)

अर्थात् सब वेदों का संगृहीत सारार्थ ही यह गीता शास्त्र है।

वेदों का अस्पष्ट, दुर्वोध्य और निगूढ़ सभी तात्पर्य उनके सारार्थ-स्वरूप गीता से जैसा सुव्यक्त हुआ है उसे केवल दृष्टान्त स्वरूप उनके दो एक विषय मात्र का दिग्दर्शन यहाँ कराया जाता है।

सब वेदों में उन श्री भगवान का और उनकी अनुशीलन रूपा भक्ति का ही कीर्तन किये जाने पर भी, अस्पष्ट वेदध्वनि से यह सब कुछ भी समझ में नहीं आता, उनके सारार्थ और भगवद्वाणी स्वरूप गीता शास्त्र की सहायता के बिना।

वेदशिर श्रुति कहती है,—सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति।" (काठके २।१५) अर्थात्—समस्त वेद जो पूजनीय का कीर्तन करते हैं। समस्त वेद कहने से त्रिकाण्डात्मक निखिल वेद को ही निर्देश किया गया है। अर्थात् कर्म, देवता और ज्ञान—इन तीनों काण्डों में सर्वत्र ही वह सर्व पूजनीय ही कीर्तित हुए हैं, यही उक्त श्रुतिवाक्य का अभिप्राय है। किन्तु वेद का कर्मकाण्ड उलट-पलट कर देखने से, वहाँ केवल स्वधा, औषधि, मन्त्र, घृत, अग्नि प्रभृति समस्त यज्ञोपकरण के साथ यज्ञ की जयगान के अतिरिक्त स्थूल दृष्टि में दूसरा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और कुछ भी परिलक्षित नहीं होता; उपासना या देवताकाण्ड में, किसी-किसी विशेष स्थान में तो विष्णु की सर्वश्रेष्ठता प्रकाशित होती है, किन्तु इन्द्र, अग्नि, अश्वनीकुमार, मित्र, वरुण, विश्वदेव प्रभृति समस्त विभिन्न देवताओं की स्तुति गान में ही वह काण्ड मुखरित होते देखा जाता है; ज्ञानकाण्ड में अद्वैत ब्रह्मवाद की जय बोली गई है; किन्तु वह वेद स्वयं ही कहते हैं, "समस्त वेद जो पूजनीय का कीर्तन करते हैं।" कीर्तन करते हैं यह तो ठीक ही है; किन्तु वह कीर्तन की ध्वनि समुद्र की बड़े जोरों की कोलाहल ध्वनि की तरह निश्वास-स्वरूप अस्पष्ट वेद वाणी के किसी अगम्य तली (पेंदी) में विलीन होकर रह गयी है, उसका पता एक मात्र उन देवमय—सर्वादि, स... पुरुष के श्री मुख की वाणी द्वारा ही चल सकता है, दूसरा कोई भी ... पता नहीं लगा सकता। जो तीनों काल में भी वर्तमान रहकर एक ही ... में तीनों काल के परिद्रष्टा हैं,— उनके अतिरिक्त उनको प्रकृष्ट रूप में ... कौन जान सकता है?—क्या और कोई भी उस विषय में प्रकृष्ट ज्ञान प्र... कर सकता है[1]?

वास्तविक बात तो यह है कि वेद जिनके निश्वास हैं ("महतो भू... निःश्वसितम्—"वृहदा २।४।१०)—जो साक्षात् वेदमय पुरुष हैं, ("—... सामयजुरेव च।"—गीता ६।१७) जो वेद के उत्पत्तिस्थल हैं, ("—... ब्रह्मयोनिम्।—श्वेताश्व ।५।६) सब वेदों का यथार्थ अभिप्राय एक मात्र ... सम्पूर्ण रूप में जानने योग्य हैं, (वेदांवदेव चाहम्।" -गीता ।१५।१५) ... बात उनके श्री मुख की सभी उक्तियों से अवगत हो जाती है। जो सभी ...

---

[1]— वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥
(गीता ७।२६)

अर्थ,—हे अर्जुन! मुझे भूत, भविष्यत्, वर्तमान—इन तीनों काल ... विषय विदित हैं; किन्तु मुझको कोई भी नहीं जानता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ानते हैं, किन्तु जिनको कोई भी नहीं जानता, (मां तु वेद न कश्चन—गीता ७।२६)—उनसर्वज्ञ-सर्वदर्शी-सर्वादि-कारण—स्वयं भगवान श्री कृष्ण के ाक्षात् श्री मुखपद्म विनिर्गता वाणी ही श्री भगवद्गीता है, पद्मपुराण के ीता माहात्म्य में भी इसका सुस्पष्ट उल्लेख देखा जाता है।

यथा,—

गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्र विस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिर्गता ॥

इसका अर्थ,—जो स्वयं पद्मनाभ श्री हरि के मुखपद्म से निकला है, उस ीता-शास्त्र का ही सम्यक् रूप से कीर्तनादि करना कर्त्तव्य है; ऐसा करने पर ौर दूसरे बहुत शास्त्रानुशीलन की आवश्यकता ही क्या रह जाती है।

ीतोक्त साक्षात् श्री भगवत्-वाणी से ही सब वेदों के अस्पष्ट ौर परोक्षवाद में आवृत समस्त अभिप्राय की यथार्थ उपलब्धि।

एक तो सब वेद अस्पष्ट हैं; उस पर फिर उसी भगवत् प्रेरणा से ऋषियों ारा परोक्षवाद के आवरण में आवृत हैं;[१] इसलिये इतना दुरधिगम्य वेद के थार्थ अभिप्राय की या अर्थ की अनुभूति साक्षात् वेद से लाभ करना एक कार से असम्भव ही कहना पड़ेगा। किन्तु अब उन समस्त वेद के सारार्थ

---

[१],—वेदा ब्रह्मात्म विषया त्रिकाण्ड विषया इमे।
परोक्षवादा ऋष्यः परोक्षंच च मम प्रियम् ॥
(श्री भा: ११।२१।३५)

अर्थ,—कर्मादि त्रिकाण्ड वेद ब्रह्मात्म या परमेश्वर विषयक हैं; मन्त्रद्रष्टा ऋषि लोग उसे स्पस्ट न कहकर परोक्ष भाव में अर्थात् आवरण करके कहते हैं। क्योंकि उक्त विषय में परोक्षवाद मुझे प्रिय है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और वेदमय पुरुष की साक्षात्-वाणी स्वरूप गीता शास्त्र से वेद के दुर्बोध्य समस्त विषय का सुस्पष्ट अर्थ सरलता से ही हम समझ लेंगे। "सभी वेद जिनका कीर्तन करते हैं"—वह सर्ववेद वन्दित पुरुष कौन हैं ? यह स्पष्ट रूप से वेद के सारार्थ गीतोक्ति से अवगत हो जाती है, यथा,

"वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो।
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥"

(१५।१५)

इसका अर्थ—समस्त वेद को और उसमें वर्णित समस्त देवतारूप के अर्जुन! तुम्हारे सामने—समूर्त यही जो मैं हूँ) एक मात्र मैं ही ज्ञेय योग्य हूँ, और उन वेदों का मैं ही कारण हूँ और उस सम्प्रदाय का प्रवर्तक सर्व ज्ञान दाता गुरु भी मैं हूँ। इसलिये समस्त वेद का यथार्थ अर्थवित् मैं ही हूँ। (श्री स्वामिपादकृत टीका का तात्पर्य।)

इससे अब यह समझ में आ गया के श्रुति ने पूर्वोक्त 'यत्पदम्' निर्विशेष उक्ति द्वारा जिसे निर्देश किया है, उसी का ही सविशेष या अर्थ है—श्री कृष्ण—स्वयंरूप-परतत्त्व या स्वयं भगवान। (जो अपने श्री से सम्पूर्ण अभिन्न स्वरूप हैं।)

कर्मकाण्ड का निगूढ़ और यथार्थ अर्थ—श्री कृष्ण और श्रीकृष्ण भक्ति; बाह्य अर्थ—कर्म और यज्ञादि।

इतना समझ लेने पर भी, यह बात अब भी समझने के लिये रह कि,—यद्यपि वही समस्त वेद द्वारा जानने के योग्य हैं, किन्तु कर्मकाण्ड में मन्त्र और यज्ञोपकरणादि के शब्दों के अतिरिक्त और दूसरी कोई भी बात सुनने में नहीं आती; देवता काण्ड में इन्द्र, सूर्य, अग्नि और अश्विन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

देवता और उनके स्तव और मन्त्रादि को छोड़कर वहाँ कुछ और तो परिदृष्ट नहीं होता। इसका अर्थ हम लोग क्या समझेंगे?

इन वेदविद पुरुष के गीतोक्तिरूप श्रीमुख की वाणी से ही उक्त प्रश्न का ठीक उत्तर और समाधान प्राप्त हो जाता है, यथा;—

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहम हमेवाज्य महमग्निरहंहुतम्॥
(६।१६)

इसका अर्थ—मैं ही क्रतु हूँ। मैं ही स्वधा हूँ; मैं ही औषधि हूँ; मैं ही घृत हूँ, मैं ही अग्नि हूँ, होम प्रभृति समस्त यज्ञीय उपकरण मैं ही हूँ, (केवल यही नहीं) यज्ञ का भी यथार्थ अर्थ मैं ही हूँ। (तात्पर्य यह है कि—उक्त यज्ञोपकरणादि के नाम और 'यज्ञ' शब्द, से—परोक्षवाद में आवृत करके मुझे ही संकेत किया गया है।)

स्वयं श्रुति ने भी 'यज्ञो वै विष्णुः" अर्थात् 'यज्ञ ही विष्णु" कहकर निर्विशेष भाव से जिसको निर्देश किया है, उसका ही सुस्पष्ट व सारार्थ गीता से यह जाना जाता है कि—यज्ञ और यज्ञोपकरणादि के नाम से कर्मकाण्ड में जो कुछ उक्त हुआ है, उन सब के निर्देश्य वस्तु हैं,—श्री कृष्ण। यह सब केवल उन्हें ही संकेत करते हैं। स्थूल दृष्टि से तो इन सब शब्दों के वाह्यार्थ द्वारा यज्ञादि ही उपलब्धि होती है, किन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो इसका निगूढ़ अर्थ श्रीकृष्ण ही हैं।

इसलिये अस्पष्ट और परोक्षवाद के आवरण में आवृत होने के कारण वेदों से, जिनका समझना जीवों के लिये अति कठिन है, सब विषयों का यथार्थ तात्पर्य अवगत न हो सकने से केवल उनका यथादृष्ट अर्थ जो लोग ग्रहण करते हैं; वही कर्मकाण्ड को 'यज्ञादिमय' समझकर यज्ञादि के अनुष्ठान में व्रती होते हैं; किन्तु उक्त प्रकार से उनके निगूढ़ अर्थ की उप-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लब्धि जिन्हें हो गई हैं, केवल वही उनको 'यज्ञमय' न देखकर 'कृष्ण' देखते हैं। और वह लोग यज्ञ के अनुष्ठान का अर्थ श्री कृष्ण की अनुशीलन रूपा एक मात्र भक्ति ही समझकर, उसी का आश्रय ग्रहण करने का सौभाग्य लाभ करते हैं।

इसलिये वेद का सुस्पष्ट और सारार्थ गीता से यह जाना जाता है कि यज्ञानुष्ठान का अर्थ श्रीकृष्णानुशीलन है और श्री कृष्ण और श्री कृष्ण ही समस्त कर्मकाण्ड का निगूढ़ अभिप्राय है।

देवताकाण्ड का निगूढ़ और यथार्थ अर्थ—श्रीकृष्ण और उनकी आराधना या भक्ति; वाह्यार्थ—इन्द्रादि देवता और उनकी आराधना।

देवता काण्ड में भी इन्द्रादि देवता के उद्देश्य से जो कुछ अनुष्ठान है, निगूढ़ वेद के वाह्य अभिप्राय से वह उस रूप में ही बोध होने पर भी इन्द्र, सूर्य या सविता प्रभृति सभी नामो के निर्देश्य वस्तु-श्रीकृष्ण ही हैं,—परोक्ष के आवरण में आवृत देवता काण्ड का यह निगूढ़-रहस्य कि समस्त देवता की उपासना श्रीकृष्ण-उपासना का ही वहिरङ्ग अर्थ है, वेद के सारार्थ गीता से, साक्षात् वेदमूर्त उन्हीं सर्वादि पुरुष की श्री मुख की सुस्पष्ट उक्ति द्वारा हम लोग जान सकते हैं। यथा,—

येऽप्यन्य देवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्य विधिपूर्वकम्॥
अहं हि सर्वयज्ञानाँ भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥

(गीता ९।२३-२४)

इसका अर्थ,—हे कौन्तेय! जो लोग श्रद्धा और भक्ति से अन्य देवताओं की आराधना करते हैं, वह अज्ञान पूर्वक मेरी ही आराधना करते हैं। मैं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सब यज्ञों का भोक्ता हूँ और फलदाता भी मैं ही हूँ। किन्तु ऐसे लोगों को मेरा यथार्थ स्वरूप विदित न होने के कारण (संसार चक्र में) बार-बार आना पड़ता है।

यहाँ विवेच्य बात यह है कि यज्ञ या आराधना तो की जाती है इन्द्रादि देवताओं के उद्देश्य से, किन्तु उसके भोक्ता और फलदाता श्रीकृष्ण होते हैं, यह कभी सम्भव हो सकता नहीं, यदि उक्त इन्द्रादि शब्द के श्रीकृष्ण ही निर्देश्य वस्तु न होते। जो लोग ऐसा समझकर इन्द्रादि की आराधना करते हैं; वह लोग परमधाम प्राप्त कर फिर आवागमन के चक्कर में नहीं पड़ते। किन्तु जो लोग ऐसा न जानकर पृथक् बुद्धि से इन्द्रादि सभी देवताओं की आराधना करते हैं,—उन लोगों को ही बार-बार संसार में आना पड़ता है। इसी का ही नाम है अविधि पूर्वक कृष्णानुशीलन।

अतएव देवताकाण्ड का भी मुख्य तात्पर्य है,—श्रीष्ण का और श्री कृष्ण भक्ति का ही अनुशीलन।

इन्द्रादि देवता वाचक सांकेतिक शब्दों से परमात्मवस्तु को ही निर्देश किया गया है। इसका वाह्यार्थ—वही वही देवता विशेष।

इन्द्रादि शब्दों के बहिरङ्ग अर्थ से तो उन देवता विशेष की उपलब्धि होती है किन्तु सर्वान्तर्यामी परमात्मा ही उनका निगूढ़ और अन्तरङ्ग अर्थ है, किन्तु परोक्षवाद के आवरण के कारण उसकी उपलब्धि बहुत कठिन हो जाती है; श्रुति से भी इसका इङ्गित पाया जाता है; यथा,—

तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम। तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः ॥”

(ऐतरेय १।१४।३)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसका अर्थ,—इस कारण से परमात्मा का नाम इदन्द्र हैं, अर्थात् सभी को देखते हैं (सर्व द्रष्टा) उनका नाम इदन्द्र है। इदन्द्र होने के का ब्रह्मवादिगण उनको परोक्षभाव में 'इन्द्र' कहते हैं। क्योंकि देवता प प्रिय हैं।

इसी तरह वेद में 'सूर्य' शब्द के वाह्य अर्थ से चाहे देवता की उपलब्धि होती हो, किन्तु उसके अन्तर्निहित अर्थ से तो सर्वान्तर्यामि परम वस्तु ही अभिव्यक्त हुआ है, महामति सायनाचार्यकृत भाष्य से इसका इ मिलता है, यथा,—

"हे सूर्य = अन्तर्यामितया सर्वस्य प्रेरक परमात्मन्। तरणिः = संसार स्तारकोऽसि।" (ऋग्वेद ,१।५०।४र्थ सूक्त का भाष्य।)

इसका अर्थ,—जो अन्तर्यामिरूप से हम सब को परमधाम में भेजते हैं जो दुःखमय संसार समुद्र के निस्तारक हैं,—वही सूर्य नाम से कहे जाते हैं

इसी तरह वेदोक्त दूसरे देवताओं के सम्बन्ध में भी समझना चाहि अधिक हो जाने के भय से यहाँ दो एक दृष्टान्त मात्र दिग्दर्शनार्थ प्रद किये गये हैं।

सर्वान्तर्यामी परमात्मा के श्रीकृष्ण ही परमावस्था।

यहाँ उक्त इन्द्र, सूर्यादि नाम द्वारा निर्देश्य वह सर्वान्तर्यामी परम वस्तु कौन है? इसका प्रकृष्ट परिचय या समूर्त अर्थ,—वेद के सारार्थ गीता सुस्पष्ट रूप में ज्ञात होगा। यथा;

> अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
> अहमादिश्च मध्यंच भूतानामन्त एव च॥
> (१०।२०।)

इसका अर्थ,—हे गुडाकेश, सब प्राणियों के अन्तःकरण में सर्वज्ञत्व और सर्वनियन्तृत्वादि रूप में अवस्थित परमात्मा मैं ही हूँ। सब जीवों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उत्पत्ति, स्थिति और विनाशरूप आदि, मध्य और अन्त का भी मैं ही कारण हूँ। (श्री स्वामिपादकृत टीका का तात्पर्य)

ज्ञानकाण्ड में वर्णित 'ब्रह्म' शब्द की मुख्यावृत्ति श्रीकृष्ण ही हैं। वही निर्विशेष ब्रह्म के प्रतिष्ठा या घनीभूत समूर्त ब्रह्म हैं।

अब ज्ञानकाण्डोक्त निर्विशेष और निगूढ़ अद्वैत ब्रह्मवाद का जो सविशेष और सुस्पष्ट अर्थ है, वह भी वेद के सारार्थ और समूर्त पूर्ण ब्रह्म के श्री मुख की वाणी रूपा गीता से ही विदित हो सकेगा; यथा,—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्टाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥
(१४।२७)

इसका अर्थ,—क्योंकि मैं निर्विशेष ब्रह्म का प्रतिष्ठा हूँ अर्थात् घनीभूत या समूर्त ब्रह्म ही मैं हूँ। जिस तरह समूर्त सूर्य मण्डल निर्विशेष तेजोराशि का घनीभूत प्रकाश है,—मैं भी उसी तरह हूँ। उसी तरह मैं परमानन्द स्वरूप होने के कारण नित्य, अमृत, शाश्वत, धर्म और अखण्ड सुख का प्रतिष्ठा भी मैं हूँ। (श्री स्वामिपादकृत टीका का तात्पर्य)

इस तरह से उक्त संक्षिप्त आलोचना द्वारा भी यही समझ में आता है कि,—सर्वान्तर्यामीरूप से वही एक परमात्मवस्तु सब जीवों में निहित रहने पर भी, "स एव सर्वं परमात्मभूतः।—(श्री भाः १०।४६।४३) जिस तरह स्थूल दृष्टि में उस परमात्म वस्तु को छोड़कर दूसरी सभी वस्तु की उपलब्धि होती है, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि में केवल परमात्मा ही मुख्य भाव से प्रतिभात होता है, उसी तरह परमात्मा की परमावस्था यह श्रीकृष्ण ही सब वेदों में परिव्याप्त होनें पर भी, तिल में अवस्थित तेल की तरह या दही में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अवस्थित घी की तरह,—स्थूल दृष्टि के सामने केवल उनका परोक्ष-वाह्य ही परिदृष्ट होता है; किन्तु कर्म, उपासना और ब्रह्म—यह त्रिकाण्डात्मक वेद ही श्रीकृष्णात्मक के अतिरिक्त दूसरे कुछ नहीं हैं, यह केवल उनकी कृपा सूक्ष्मदर्शी का ही दर्शनीय विषय होता है। तभी तो श्रुति ने भी इस दृष्टि की बात स्वयं ही व्यक्त कर दी है; यथा,—

> एष सर्वेषु भूतेषु गूढ़ाऽत्मा न प्रकाशते।
> दृश्यते त्वग्रया बुध्या सूक्ष्मया सूक्ष्म दर्शिभिः ॥
> (काठके ।१।३।१०)

इसका अर्थ,—यह परमात्मा सर्व भूतों में छिपे हुए हैं, प्रकाश नहीं किन्तु जो लोग सूक्ष्म दर्शी हैं, वह तीक्ष्ण और सूक्ष्म बुद्धि द्वारा उनका दर्शन करते हैं।

सब वेदों के विस्तारार्थ श्रीमद्भागवत में भी उन स्वयं भगवान् की साक्षात् श्री मुख की वाणी द्वारा उक्त अभिप्राय ही उदात्त (ऊँचे) स्वर से जगत में विघोषित।

सब वेदों के सारार्थ श्री गीता से यहाँ तक हमें जो कुछ ज्ञात हुआ, तात्पर्य सब वेदों के विस्तारार्थ, "वेदार्थ परिवृंहित।"—सर्वशास्त्र शिरोमणि श्रीमद्भागवत में भी उन सर्वादि, सर्वविद्, वेदमय पुरुष द्वारा विघोषित देखा जाता है। सब वेदों का वह मुख्य तात्पर्य है क्या? उन्होंने स्वयं इस विषय में प्रश्न करके, इसका ठीक-ठीक उत्तर उदात्त (ऊँचे) स्वर से जगत में घोषित कर दिया है। यथा,—

> किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत्।
> इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद्वेद कश्चन ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

माँ विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्या पोह्यते ह्यहम् ।
एतावान्सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम् ।।
माया मात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिद्ध्य प्रसीदति ।।
(श्री भा: ११।२१।४२-४३)

इसका अर्थ,—"श्रुति कर्मकाण्ड में विधि वाक्य द्वारा किसका विधान करती है, देवताकाण्ड में मन्त्र वाक्य द्वारा किसका अभिधान करती, और ज्ञान काण्ड में किसका अनुवाद करके विकल्प अर्थात् तर्क करती,— यह सब अभिप्राय मेरे अतिरिक्त दूसरा कोई भी नहीं जानता ।

श्रुति मेरा ही यज्ञरूप में विधान (अनुष्ठान) करती है, मुझे ही देवतारूप में निरूपण करती है और मुझे ही तर्क करके निराकरण (खण्डन) करती है । यही सब वेदों का तात्पर्य है । वेद मेरा ही आश्रय करके, प्रथमतः माया मात्र जगत का निषेध करते हैं, मध्य में मेरे अवतारादि रूप भेद का अनुवाद (समर्थन) करते हैं, अन्त में यह बताकर निवृत्त हो जाती है कि जैसे अंकुर-गत रस काण्ड शाखादि में फैला रहता है, वैसे ही प्रणवार्थभूत एकमात्र श्री कृष्ण ही समस्त काण्ड शाखादि में घुसे हुए हैं ।'[1]

वेद के विस्तारार्थ—शास्त्र-शिरोमणि श्री भागवत में साक्षात् स्वयं भगवत के श्री मुख की उक्तिरूप में—पराकाष्ठा प्राप्त शास्त्र-प्रमाण द्वारा भी श्री कृष्ण और श्रीकृष्ण-भक्ति का ही सर्व मुख्यत्व प्रदर्शित होकर यहाँ उस विषय की परिसमाप्ति हुई है ।

विद्वानों के अनुभव के प्रमाण से भी ।

अब विद्वानों के अनुभव के प्रमाण द्वारा भी उक्त तात्पर्य ही समर्थित होगा; यथा,—

[1],—प्रभुपाद श्रीमत् श्यामलाल गोस्वामि कृत 'श्री गौर सुन्दर' से उद्धृत ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"कृष्ण भक्ति अभिधेय सर्वशास्त्रे कय ।
अतएव मुनिगण करियाछे निश्चय ॥"

तथाहि मुनिवाक्यम्—

श्रुतिर्माता पृष्टा दिशति भवदाराधन विधिम् ।
यथा मातुर्वाणी स्मृतिरपि तथ । वक्ति भगिनी ।
पुराणाद्या ये वा सहजनिवहास्ते तदुनुगा ।
अतः सत्यं ज्ञातं मुरहर ! भवानेव शरणम् ॥
(श्रीचरितामृत धृत । २।२२)

इसका अर्थ,—माता स्वरूपिणी श्रुति से जिज्ञासा करने पर वह आप की आराधना की विधि का उपदेश करती हैं, इन माता का जो उपदेश भगिनी स्मृति भी वही बताती हैं, पुराणादि सहोदरगण भी माता और भगि के ही अनुगत हैं; (अर्थात् श्रुति-स्मृति-पुराण सभी श्री कृष्ण-भक्ति का उपदेश करते हैं ।) इसलिये हे मुर-हर ! यही सत्य समझ में आया कि आ ही एक मात्र आश्रय है ।

सिद्ध भक्तों के अपरोक्ष अनुभव से भी ।

श्री नारदादि सिद्ध भक्तों के अपरोक्ष अनुभूतिरूप प्रमाण से भी, अ अभिप्राय ही समर्थित होता है, यथा,—

आराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किम् ।
नाराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किम् ॥
अन्तर्बहिर्यदि हरिस्तपस ततः किम् ।
नान्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किम् ॥
(श्री नारद-पञ्चरात्र)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसका अर्थ,—यदि श्री हरि ही[1] आराधित होते हैं, तो अन्य तपस्या का क्या प्रयोजन ? और यदि श्री हरि ही आराधित नहीं होते, तो ऐसी तपस्या का प्रयोजन क्या ? यदि भीतर बाहर में हरि विहार करते हैं, तो फिर और तपस्या का प्रयोजन क्या ? यदि श्री हरि भीतर बाहर में विहार नहीं करते, तब भी ऐसी तपस्या का प्रयोजन क्या ?

इस तरह से यहाँ तक आलोचना द्वारा हमने यही प्रतिपन्न करने की चेष्टा की है कि, भक्ति को निर्देश और उसकी ओर चलाने और उससे बञ्चित न होने के लिये ही सब वेदादि शास्त्रों में समस्त विधि और निषेध वर्णित हैं। भक्ति से अधिक या उसके समान कोई भी साधना नहीं है। वेद-विहित धर्म कर्म, ज्ञान, योग और तपस्यादि सभी साधनायें भक्ति के अधीन हैं—भक्ति की सहायता के बिना सिद्धि प्रदान करने में असमर्थ हैं; और स्वाधीना भक्ति—दूसरे किसी साधना की कुछ भी अपेक्षा न करके, भक्त को सर्व-श्रेष्ठ फल प्रदान करने में समर्थ है। इस तत्त्व की घोषणा वेद और वेदानुगत सभी शास्त्र एक स्वर से करते हैं।

वेदविहित दूसरे सभी साधन भी भक्ति-विशेष या भक्ति के प्रकार-भेद

अतः पर हम यह उपलब्धि करने की चेष्टा करेंगे कि, दूसरी साधनायें,

---

[1] सब अवतारों के श्रीकृष्ण ही आदि होने के कारण जिस तरह उनको 'अवतारी' या स्वयं भगवान कहा जाता है, उसी तरह 'हरि' शब्द वाच्य सब भगवत स्वरूपों के वही आदि होने के कारण, श्री भागवत में (१०।७२।१५) उनको आद्य हरिः कहा गया है। इसकी टीका में श्रीधर स्वामिपाद ने लिखा हैं, आद्यो हरिः श्री कृष्ण:इत्येषा—"। अर्थात् श्रीकृष्ण ही आद्य हरि हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

केवल भक्ति की मुखापेक्षी ही नहीं हैं, अपितु सभी साधनायें प्रकार भेद भक्ति ही हैं, अर्थात् भक्ति के अतिरिक्त कोई साधन है ही नही।

भक्ति प्रधानतः दो प्रकार की है, यथा—सगुणा और निर्गुणा सगुणा भक्ति फिर तामस, राजस और सात्त्विकी भेद से तीन प्रकार की है वेद-विहित हिंसामूलक ऐहिक या पारलौकिक भोगवासना युक्त सकाम कर्म नाम तामसी भक्ति है, अहिंसा-मूलक ऐहिक या पारलौकिक भोगवासना-यु सकाम कर्म का नाम राजसी-भक्ति है, मोक्ष वासना युक्त सकाम कर्म का ना सात्त्विकी-भक्ति है। तामस और राजस भक्ति का दूसरा नाम सकामा भ है। आर्त और अर्थार्थी सभी व्यक्ति उसके अधिकारी हैं और स्वर्ग सुख प्राप्ति ही उनकी सिद्धि है। सात्त्विकी भक्ति सकाम होने पर भी केवल मो वासना रहने के कारण, वह सकाम भक्ति न कहीं जाकर निष्कामा भ कही जाती है। मुमुक्षु या मोक्षकामी सब निष्काम सात्त्विकी भक्ति के अ कारी हैं।

फिर यह मोक्ष-वासना युक्त निष्कामा भक्ति प्रायः कर्म, ज्ञान अथवा द्वारा मिश्रित रहा करती है। कर्म द्वारा मिश्रित होने से कर्म मिश्रा भ ज्ञान द्वारा मिश्रित होने से ज्ञान मिश्रा भक्ति और अष्टाङ्ग योग द्वारा मिश्रि होने से योग मिश्रा भक्ति कहलाती है। कर्म मिश्रा भक्ति का फल चित्त शु है, ज्ञान मिश्रा भक्ति का फल ब्रह्म साक्षात्कार के अनन्तर सद्यो मुक्ति और योग मिश्रा भक्ति का फल परमात्म-साक्षात्कार के पश्चात् क्रम मु है। कर्म मिश्रा भक्ति के अन्तर्गत सभी निष्काम कर्मानुष्ठान साक्षात् भ नहीं है। किन्तु चित्त शुद्धि के उत्पादन कराने से भक्तित्व के आरोप अर्थात् तदाकार में आकारित होने से, उसे आरोप सिद्धा भक्ति कहते हैं, ज्ञान व योग मिश्रा भक्ति साक्षात् भक्ति न होने पर भी भक्ति के सङ्गवश सिद्ध होने के कारण, उनको संग-सिद्धा भक्ति कहते हैं।

और जो कर्म, ज्ञान और योगादि से सम्पूर्ण अनावृता—श्री भग साक्षात्कार की एकमात्र हेतुभूता है, वही है निर्गुणा या शुद्धा भक्ति।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का दूसरा नाम स्वरूप-सिद्धा, उत्तमा, केवला, अनन्या, अकिञ्चना इत्यादि है[1]। यह अनुसंगिक रूप में कर्म का फल, ज्ञान का फल और योग का फल प्रदान पूर्वक, अपना मुख्य फल श्री भगवत् साक्षात्कार और सेवा प्रभृति सब कुछ प्रदान करती है।

वेद विहित दूसरे सभी साधनों के साधक लोग भक्त विशेष हैं।

इसलिये अब यह बात सहज में ही हमारे समझ में आ गई कि चाहे सकाम कर्म हो या चाहे निष्काम कर्म हो, चाहे ज्ञान हो, चाहे योग हो, सभी सगुणा भक्ति विशेष हैं, इस तरह, पूर्व वर्णित, वेदनिर्दिष्ट हिंसामूलक सकाम कर्म से लेकर परमात्म-साक्षात्कार के हेतु-भूता क्रम मुक्ति-प्रापक अष्टांग योग पर्यन्त सभी साधनायें जब कि प्रकारान्तर में भक्ति वेशेष के अतिरिक्त दूसरी कुछ भी नहीं है, तब यह भी कहा जा सकता है कि उन साधनाओं के साधक लोग भी, चाहे किसी भी भाव से हों, भक्त विशेष को छोड़कर दूसरे कुछ नहीं हैं। अतएव तामसी भक्ति विशेष के साधक लोग तामस-भक्त विशेष, राजसी भक्ति विशेष के साधक लोग राजस भक्त विशेष, निष्काम कर्मिगण आरोपसिद्धा भक्ति के साधन हेतु कर्मि-भक्त विशेष, ज्ञानीगण ज्ञान मिश्रा भक्ति के साधन हेतु ज्ञानी-भक्त विशेष और योगीगण योग मिश्रा भक्ति के साधन हेतु जिस तरह योगि-भक्त विशेष के नाम से अभिहित होने योग्य हैं, उसी तरह आश्रमी

---

[1]—श्रील विश्वनाथ चक्रवर्तिपाद ने सब भक्ति को गुणीभूता, प्रधानी-भूता और केवला; इस त्रिविध श्रेणी में विभक्त किया है। जिसमें भक्ति की अपेक्षा कर्म-ज्ञानादि की अधिकता है, वही गुणी भूता, जिसमें कर्म-ज्ञानादि की अपेक्षा भक्ति की अधिकता है, वही प्रधानीभूता और कर्म-ज्ञानादि द्वारा जो सम्पूर्ण अस्पृष्टा है, वही केवला भक्ति है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लोगों को भी गृहादि आश्रम के अनुसार से गृहिभक्त, यतिभक्त प्रभृति रूप जानना चाहिये। अतः इसमें सन्देह नहीं कि जो लोग वेद विहित जिस किसी धर्म-कर्म का भी अनुष्ठान करते हैं, वह सभी भक्ति विशेष है और उनके अनुष्ठाता भक्त विशेष हैं, और जो लोग शुद्धा भक्ति के साधक हैं, वह कर्मी ज्ञानी और योगी से भी श्रेष्ठ हैं—वह पूर्णकाम हैं—वही होते हैं शुद्ध भक्त। उक्त प्रकार से सभी भक्त-विशेष तो हैं किन्तु वह लोग कर्मी, ज्ञानी, योगी प्रभृति के नाम से ही प्रसिद्ध होने की इच्छा करते हैं। केवल शुद्धा भक्ति के अधिकारी भक्त नाम से विख्यात होते हैं।

बहुत प्रकार की भक्ति में से—सात्त्वादि गुणों के भेद से त्रिविधा और निर्गुण या शुद्धा,—इन चार प्रकार की भक्ति के विषय में शास्त्रोक्ति।

भक्ति के उक्त प्रकार के भेद के सम्बन्ध में शास्त्र वाक्य, यथा,—

भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भाविनि भाव्यते।
स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो विभिद्यते॥
(श्री भाः ३।२९।७)

इसका अर्थ—(भगवान् कपिल देव ने माता देवहूति से कहा) हे भाविनि! प्रकार भेद से भक्ति योग बहुत तरह की हैं। यह भक्ति सत्त्वादि गुणों के द्वारा से पुरुषों के स्वभावानुरूप विशेष-विशेष मार्ग द्वारा विविध भेद-विशिष्ट हो जाती है।

अब श्री भगवान पहले सगुण भक्ति निर्देश करने के लिये उसके अन्तर्गत सकाम-तामस-भक्ति और भक्त के लक्षण बताते हैं,—

अभिसंधाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्यमेव वा।
सँरम्भी भिन्न दृग्भांव मयि कुर्यात्स तामसः॥
(श्री भाः ३।२९।८)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसका अर्थ,—क्रोधी भेददर्शी व्यक्ति जो हिंसा, दम्भ और मात्सर्यादि के वशवर्ती होकर हमारी भक्ति करता है, वह तामस भक्त है।

अनन्तर सकाम-राजस भक्ति और भक्त के लक्षण कहते हैं; यथा,—

विषयानभिसंधाय यशः ऐश्वर्यं मेव वा।
अर्चादावर्चयेद्यो मां पृथग्भाव स राजसः ॥
(श्री भाः ३।२६।६)

इसका अर्थ,—जो व्यक्ति विषय, यश, ऐश्वर्य प्रभृति की कामना से भेददर्शी होकर विभिन्न प्रतिमादि में मेरी अर्चन करता है, वह राजस भक्त है।

तदन्तर सात्त्विकी भक्ति के विषय में,—(या निष्काम—आरोपसिद्धा भक्ति और भक्त के विषय में) यथा,—

कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन्वा तदर्पणम्।
यजेद्यष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः ॥
(श्री० भाः ३, २६,१०)

इसका अर्थ,—जो कर्मक्षय करने के विचार से भगवान की प्रीति सम्पादन के उद्देश्य से या भगवान में कर्मफल अर्पण करने के उद्देश्य से यज्ञादि द्वारा कर्त्तव्य समझ कर मेरी अर्चन करते हैं, उन्हें सात्त्विक भक्त कहते हैं।

इसके अनन्तर निर्गुण या शुद्धा भक्ति के लक्षण बताते हैं; यथा,—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥
(श्री भाः ३।२६। ११-१२)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसका अर्थ,—समुद्र से मिलने के लिये जाने वाली गंगा की धारा तरह मेरे गुणों के श्रवण मात्र से मुझ अन्तर्यामी में अव्यवहिता अर्थात् कर्मादि द्वारा अनावृत और सम्पूर्ण फलाभि सन्धि रहिता निर्विच्छिन्न वृत्ति का होना, श्री भगवान में निर्गुण भक्ति-योग का लक्षण है।

शुद्धा भक्ति ही सर्वोपरि अन्वर्थ और अचिन्त्य महिमा में महिमान्विता।

इसलिये यह बात स्पष्ट ही प्रमाणित होती है कि भक्ति के सम्बन्ध कारण सभी साधनायें भी भक्ति विशेष हैं और उसी भक्ति से सम्ब साधन के कारण सब साधक भी भक्त विशेष हैं। जिस मणि के स्पर्श से भी सोना हो जाता है, उस मणि का स्थान जैसे सोना से बहुत ऊँचा है, ही जिस भक्ति की कृपा से अन्य साधनायें भी भक्तित्व प्राप्त करती हैं, उस भक्ति का स्थान सब साधनों से कितना ऊँचा है, यह लौकिक भाषा में प्र नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि उसे अनुभव करने पर भी भ के अभाव से प्रकृष्ट रूप में कोई भी प्रकाश नहीं कर सका। तभी तो नारद जी ने कहा है "ॐ मूकास्वादनवत्।" (नारद भक्ति सूत्र—५२) है

साधन जगत में सर्वोत्तमा होने के कारण उसका नाम उत्तमा भक्ति स्पर्शमणि स्पर्श द्वारा लोहा को सोना तो कर देती है परन्तु उसे स्पर्श नहीं बना सकती, अर्थात् लोहा को अपने स्वरूप में बदल नहीं सकती; भक्ति, स्पर्श की बात तो दूर रहीं, आभास अथवा आरोप के द्वारा ही साधनों को केवल सञ्जीवित ही नहीं करती बल्कि (अपितु) भक्तित्व अधिकार तक प्रदान कर देती है। सगुण, आरोपसिद्धा और सङ्गसिद्धा शुद्धा भक्ति के ही कृपालेश से महिमान्विता हैं, किन्तु शुद्धा भक्ति अ महिमा से आप ही उद्भासित। (चमकती) है। इसीलिये ही उसका नाम अ या स्वरूप सिद्धा है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किञ्चित एकाग्र चित्त से चिन्ता करने पर हमारे यह भी समझ में आ सकता है कि केवल इतना ही नहीं है कि सब साधनायें भक्ति विशेष हैं—बल्कि भक्ति ही सब जीवों का परम धर्म है[1] भक्ति ही सब जीवों का आत्मधर्म या स्वधर्म है; भक्ति की नीव पर ही सारा जगत् सुप्रतिष्ठत और रक्षित है। अतएव—

"भक्ति-विना जगतेर नाहि अवस्थान।"

(श्री चैः १।३।१४)

शास्त्र के विचार के अनुसार भक्ति की सर्वात्मकता और सर्व मुख्यता प्रतिपादित हुई।

अब आनन्द के विचार से वृत्तिरूपा भक्ति की सर्वानन्दता और परमानन्दता प्रतिपादित होगी।

शास्त्र व शास्त्रानुकूल युक्ति द्वारा प्रतिपन्न होगा कि—भक्ति की भित्ति (जीव) के ऊपर स्वरूप वैभव से लेकर, चाहे जीव वैभव हो—चाहे माया वैभव हों—प्राकृताप्राकृत निखिल चराचर—विश्व संसार विधृत या सुप्रतिष्ठित रहता है।

श्री भगवान की स्वाभिकी शक्तित्रय—अन्तरङ्गा, तटस्था और वहिरङ्गा या स्वरूप-वैभव, जीव-वैभव और माया-वैभव।

शास्त्र कहते हैं कि मृगमद और उसके गन्ध की तरह, सूर्य और उसकी किरणावली की तरह श्री भगवान की प्रधानतः स्वाभाविकी तीन शक्तियां हैं

---

[1] "स वै पुँसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे" इत्यादि—

(श्री भाः १।२।६)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जो उनसे भिन्न होकर भी अभिन्न हैं, अतएव अचिन्त्य है ।[1] इन तीनों श
का नाम अन्तरङ्गा, तटस्था और वहिरङ्गा हैं । श्रीभगवान के स्वरूप-वैभ
नाम अन्तरङ्गा शक्ति, जीव-वैभव का नाम तटस्था शक्ति और माया
का नाम वहिरङ्गा शक्ति है । एक ही वैदूर्य मणि (लहसुनिया रत्न) में
नील-पीतादि वर्णों की तरह, एक ही श्रीभगवान की तीन नित्य विशेष श
हैं ।[2] पहली चिदवस्था, दूसरी चिदचिदावस्था और तीसरी अचिदवस्था है

---

[1],—तस्मात् स्वरूपादभिन्नत्वेन चिन्तयितु
मशक्यत्वाद्भेदः,—भिन्नत्वेन चिन्तयितु
मशक्यत्वादभेदः प्रतयीत इति शक्ति-
शक्तिमतोर्भेदावेवाङ्गीकृतौ तौ च अचिन्त्यौ
इति ।

(श्रीमज्जीव पादकृत श्री भगवदीय सर्वसम्वादिनी

अर्थ,—इसलिये स्वरूप से अभिन्न रूप में शक्ति की चिन्ता न कर
के कारण उनमें भेद प्रतीत होता है और भिन्न रूप में भी चिन्ता न कर
के कारण उनमें अभेद प्रतीत होता है । अतः शक्ति और शक्तिमा
भेदाभेद—अचिन्त्य है ।

[2]—विष्णु शक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथाऽपरा ।
अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते ॥

(विष्णु पुराण ६।७।६१

अर्थ,—श्री भगवान की परा, क्षेत्रज्ञ और अपरा नाम की तीन श
हैं । विष्णु की स्वरूप भूता शक्ति को पराशक्ति, क्षेत्रज्ञा शक्ति को
शक्ति और अविद्या जिसका कार्य है, इस प्रकार की शक्ति को अपरा या
शक्ति कहते हैं । उक्त तीनों शक्तियों का ही दूसरा नाम यथा क्र
अन्तरङ्गा, तटस्था और वहिरङ्गा शक्ति हैं ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सच्चिदानन्दमय श्री भगवान की एक ही स्वरूपगत सत्ता, चैतन्य और आनन्द—त्रिधारा की तरह उक्त तीनों शक्तियों में प्रवाहित होने पर भी, स्वरूप वैभव में ही उनकी उत्कर्ष (अधिकाई) और विशुद्धता परिपूर्ण रूप से है; इसलिये स्वरूप-वैभवस्थ भगवत्सत्तादि, यथाक्रम से अन्य वैभवस्थ सत्तादि का मूल कारण होने पर भी, शुद्धाशुद्धत्व का तारतम्य है और केवल स्वरूप-वैभवान्तर्गत सत्, चित् और आनन्द का नाम यथाक्रम से सन्धिनी[1], संवित् और ह्लादिनी है ।१

यह तीनों शक्तियाँ फिर उत्तरोत्तर एक दूसरे से उत्कृष्टतर हैं; यथा,—
"तत्र सन्धिनी सम्वित् ह्लादिन्यो यथोत्तर मुत्कृष्टा ज्ञेयाः ।"—
(सिद्धान्तरत्न ।१।४३)

अर्थात्—सन्धिनी से सम्वित् और सम्वित् से ह्लादिनी शक्ति को श्रेष्ठ जानना चाहिये ।

१—सदात्मापि यथा सत्तां धत्ते ददाति च सा सर्व देश काल द्रव्य व्याप्ति हेतुः सन्धिनी । सम्विदात्मापि यया संवेत्ति संवेदयति च सा सम्वित् । ह्लादात्मापि यया ह्लादते ह्लादयति च सा ह्लादिनीति । (सिद्धान्त रत्नम् ।१।४३)

अर्थ,—'विद्यमान हैं'—इस प्रकार नित्य सत्ता विशिष्ट भगवान् जिसके द्वारा सत्ता धारण करते हैं और द्रव्य, कर्म, काल, प्रकृति और जीव,—इन सब को सत्ता या कार्य सामर्थ्य प्रदान करते हैं, उसका नाम सन्धिनी शक्ति है । वह सर्व देश-कालादि की व्याप्ति हेतु है । ज्ञान स्वरूप होने पर भी जिसके द्वारा भगवान ज्ञान विशिष्ट के रूप में प्रकाश होते हैं और सब जीवों को ज्ञान-विशिष्ट करते हैं, उसका नाम सम्वित् शक्ति है । श्री भगवान आनन्द स्वरूप होने पर भी जिस शक्ति द्वारा आनन्द विशिष्ट होते हैं और भक्तों को व स्वसासुख्य प्रदान से सब जीवों को आनन्दित करते हैं, उसका नाम ह्लादिनी-शक्ति है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्री भगवान आनन्दमय होने पर भी जिस शक्ति विशेष द्वारा आनन्दित होते हैं और अपने भक्तों को और दूसरे सभी को आनन्दित हैं, उसी का ही नाम ह्लादिनी-शक्ति है; यथा,—

"ह्लादक रूपोऽपि भगवान् यया ह्लादते
ह्लादयति च सा ह्लादिनी।"

(श्री भगवत्सन्दर्भः ११७ अनुः

श्री भगवान की वह निरवच्छिन्न आनन्द धारा, गोलोक—द्युलोक (लोक)—भूलोक—समस्त जीवलोक परिव्यास करके नित्य विराजमान है। सूत्र जिस प्रकार सब मणियों को धारण किये रहता है, उसी मूलतः उस एक ही आनन्द सूत्र में समस्त जीव—समग्र विश्व वि उस आनन्द के अभाव में विश्व का कोई भी पदार्थ एकक्षण के लि विद्यमान नहीं रह सकता। आनन्द से ही समस्त जीवों की—समस्त की उत्पत्ति, आनन्द ही में अवस्थिति और आनन्द ही में पर्यवसान है तो श्रुति ने कहा है,—

'आनन्दाध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते,
आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्द प्रयन्त्य-
भिसंविशन्ति।" (तैत्तिरी उः।३।६।१)

अर्थात् आनन्द स्वरूप से ही यह समस्त भूत (जीव) उत्पन्न हो उत्पत्ति के अनन्तर आनन्द द्वारा ही जीवन धारण करते हैं, प्रलय में आ स्वरूप में ही लीन हो जाते हैं।

आनन्दिनी-शक्ति का विशुद्ध और विमिश्र स्वरूप भेद।

वही एक आनन्दिनी शक्ति, श्री भगवान में भगवत् आनन्दरूप में, में जैव-आनन्दरूप में और विश्व में प्राकृत आनन्दरूप में प्रकाशित तो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किन्तु आनन्दमय श्री भगवान व उनके भक्तों को आनन्द देने वाली अपने विशुद्ध-स्वरूप—ह्लादिनी रूस में सर्वदा विलास करती है। ह्लादिनी शक्ति ही समस्त आनन्द धारा की मूल निर्झरणी (झरना से निकलने वाली नदी) है। शैल प्रवाहिनी गोमुखी-निःसृता गङ्गा जिस प्रकार स्वच्छ और अनाविल (शुद्ध) होने पर भी भूखण्ड में प्रवाहिता होने के समय मृतिका के मिश्रण वशतः गरुआ रंग में रंग जाती है, उसी तरह यद्यपि शैल प्रवाहिनी गङ्गा धारा की तरह अप्राकृत प्रदेश प्रवाहित आनन्द धारा साफ और शुद्ध है और सुनिर्मल दर्पण से भी अधिक स्वच्छ और समुज्ज्वल है तब भी वही एक आनन्द धारा जब प्राकृत प्रदेश में प्रवाहित होती है तो माया के त्रिगुण रंग में रंग कर स्वतन्त्र रूप और नाम धारण करती है। वस्तुतः सभी आनन्द ह्लादिनी सोता की एक ही धारा की अवस्था विशेष हैं। सभी आनन्द की मूल श्रोत (सोता) ह्लादिनी चिन्मयधाम प्रवाहिनी हैं; विरजा या कारणार्णव तक यह आनन्द धारा स्वच्छ और विशुद्ध तो है किन्तु गोलोक या कृष्णधाम से लेकर वैकुण्ठ लोक या हरिधाम तक ही इसकी स्वाभाविक सविशेष और सक्रियता की सीमा है। उसके नीचे सिद्ध लोक या महेश धाम तक इसकी निर्विशेष और निष्क्रियता की सीमा है। उसके नीचे अर्थात् विरजा के दूसरी पार स्थित देवीधाम[1] या प्राकृत प्रदेश-प्रवाहित आनन्द धारा आविल

---

[1]—गोलोकनाम्नि निजधाम्नि तले च तस्य देवी-महेश-हरिधामसु तेषु तेषु। ते ते प्रभाव-निचय विहिताश्च येन गोविन्द मादि पुरुषं तमहंभजामि ॥

(ब्रह्मसंहिता—४३)

अर्थ,—सब के ऊपर गोलोक नामक निजधाम हैं; उसके सब से नीचे देवीधाम है जिसके ऊपर महेश धाम और उसके ऊपर हरिधाम है,—इन इन धामों में जिनके द्वारा वही वही सब प्रभाव विहित हुआ करते हैं, उन्हीं आदि पुरुष श्री गोविन्द का मैं भजन करता हूँ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(गन्दी) और आभास या छाया सदृश्य है।[१] इसलिये क्षणभंगुर दुःख से सना हुआ है। यही प्राकृत आनन्द है, यही विषयानन्द है, विषयेन्द्रिय के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ परिच्छिन्न जागतिक सुख है।

सुख और सुखाभास।

इसलिये छाया की तरह प्राकृत आनन्द, काया सदृश्य स्वरूपान सम्पूर्ण भिन्न पदार्थ नहीं है। विषय सुख, स्वरूप सुख से कुछ भिन्न पदा होने पर भी, वह मायामिश्रित, परिच्छिन्न और 'अल्प' है;— यह 'भूमा' है; उसका आभास मात्र है। जीव इस अल्प, परिच्छिन्न, दुःखमय विषय का जो बहुत थोड़ा होता है निरन्तर अन्वेषण करता रहता है,—यह ल सुखस्पृहा ही उसके भूमानन्द प्राप्ति की आकांक्षा का ज्ञापक है। किसी सूखे कण्ठ वाले को अल्प, अपवित्र और गन्दा जल पीते हुए देखने से तरह उसकी अफुरन्त, विशुद्ध और सुनिर्मल जल पीने की आकांक्षा ह पता चलता है,—उसी तरह क्षण भगुर, अल्प और परिच्छिन्न विषय न्वेषी जीव मात्र ही अनन्त और अनाविल भूमानन्द का प्रार्थी है, इसमें नहीं। जिस आनन्द के कण किम्बा आभास मात्र के आस्वादन से ही विमुग्ध है—उसका पूर्ण भाव कैसा है, प्राकृत बुद्धि इसके अनुमान क समर्थ नहीं है! अनाविल (स्वच्छ)—अनन्त आनन्द की इस स्रोत धा ही कण मात्र सारे विश्व संसार को जीवित रक्खे हुए है। तभी तो श्रु कहा है,—

---

[१]—वैषयिकञ्च सुखं तत्प्रतिच्छवि-रूपमेवेति। श्रुतिराह—एतस्यैवानन्द न्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्तीति। (सिद्धान्त रत्नम्। १म पाद ५७ अ

अर्थात्—प्राकृत विषय सुख स्वरूपानन्द की प्रतिच्छवि है। श्रुति उक्त हुआ है,—यह भगवदानन्द का किञ्चित् आभास मात्र स्वर्गादिगत का उपजीव्य (आधार) है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ।।"

(बृः आः ।४।३।३२)

अर्थात्—इस आनन्द का अंश या आभासमात्र प्राप्त करके अन्यान्य सभी जीव आनन्दित होते हैं।

इसलिये सुख का स्वरूप जिन्हें विदित हो चुका है, उनके लिये विषय सुख-शीकर (सुख की जल-विन्दु) का स्रोत कुछ नहीं है। जिन लोगों ने उसका सन्धान प्राप्त कर लिया है, वह विन्दु को छोड़कर सुखसिन्धु की ओर ही मुख करके धावित होते हैं। विश्व पावनी गङ्गा जैसे विरजा की एक विन्दु है, उसी तरह जिस उत्सधारा की एक विन्दु के आभास से ही विश्व विमोहित है, ह्लादिनी ही उसी अखिल आनन्द की मूल निर्झरिणी है। और शुद्धा भक्ति उसी ह्लादिनी की सार है या उसी ह्लादिनी की ही वृत्ति विशेष है। यथा,—

"सकल भुवन-सौभाग्यसार सर्वस्वमूर्तौ मुरमर्दने परिचय प्रचयादन—पेक्षित विधिः स्वरसत एव समुल्लसन्ती विषयान्तरैरव्य वच्छिद्यमाना वृत्तिर्भागवती वृत्तिर्भक्तिरिति ।" (श्री भगवन्नाम कौमुदी ३य पः)

इसका अर्थ – निखिल भुवन सौभाग्यसार-सर्वस्व मूर्ति एक मात्र श्रीकृष्ण में ही स्वाभाविकी अर्थात् घनिष्ठ-प्रणय हेतु विधि-बाध्यता रहिता स्वाभीष्ट रसोभूता उल्लासमयी विषयान्तर द्वारा अव्यवहिता, भागवती (भगवत् विषया) वृत्ति ही है—भक्ति।

"गुरु उपदिष्ट मन्त्रवती भक्ति-शास्त्रोक्त-विध्यनुसारिणी अन्याभिलाषिता-शून्या ज्ञान-कर्मादिरहिता भगवती श्रोत्रादीन्द्रियाणां वृत्तिर्भक्तिः ।"

(श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्तिपाद कृत – श्री भाः टीका ३।२५।३२)

इसका अर्थ,—श्रीगुरुपदिष्ट मन्त्रोपदेशयुक्ता, भक्तिशास्त्रविधि अनुसारिणी, श्री भगवान की सेवाभिलाष छोड़कर अन्य अभिलाषशून्या, कर्म-ज्ञानादि का

५

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आचरण छोड़कर श्री भगवान में श्रवणादि इन्द्रियों की 'वृत्ति' का ही नाम है 'भक्ति।'[1]

आनन्द के स्वरूप के सम्बन्ध में हमें कुछ ज्ञान हुआ। अब आनन्द की वृत्ति के सम्बन्ध में आलोचना करने से ही हम सहज में यह समझ सकेंगे कि भक्ति ही है आनन्द की वृत्ति। भक्ति के बिना कोई किसी प्रकार सुखानुभव नहीं कर सकता, अतएव आनन्द के नित्यदास—नित्य सेवक जीव का, भक्ति ही स्वाभाविक और नित्य धर्म है।

भाव, रस और आनन्द का परस्पर निरवच्छिन्न सम्बन्ध।

श्रुति ने कहा है,—"यद्वैतत् सुकृतम्। रसो वै सः। रस ह्येवायं लब्ध्वा नन्दी भवति।"—(तैत्तिरी २।७)

इसका अर्थ,—इसलिये उनको सुकृत (अर्थात् स्वयं कर्ता = स्वयंरूप) कहा जाता है। जो सुकृत हैं, वही रसस्वरूप हैं। यह (जीव) रसस्वरूप को पाकर ही सुखी होता है।

उक्त श्रुतिवाक्य का तात्पर्य यह है कि—स्वयं रूप या स्वयं भगवान ही हैं रसस्वरूप। उन रसस्वरूप को ही प्राप्त होकर जीव आनन्दी या सुखी होता है।

यह बात नहीं है कि आनन्द का विषय रहने से ही आनन्द होता है; आनन्द के आश्रय द्वारा भाव की उच्छ्वास, (ऊपर को खींची हुई साँस) विषय में पड़ने से उसके ही स्पर्श से विषय रसता प्राप्त करके, आश्रय को आनन्द

१—श्रीमद्भागवत का ३।२५।३२ श्लोक और उसका श्रील चक्रवर्त्तिपाद कृत सारार्थ-दर्शनी टीका। और गीता के १८।५५ श्लोक का श्री चक्रवर्त्तिपाद कृत टीका द्रष्टव्य। श्री मज्जीवगोस्वामिपाद कृत प्रीति सन्दर्भ का ६० अनुच्छेद द्रष्टव्य।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दान करता है। 'भाव' है आनन्द की 'वृत्ति'। इस भाव का ही दूसरा नाम 'भक्ति' है।१ भाव व रस और रस व भाव—इसमें परस्पर सापेक्ष सम्बन्ध है। भावहीन रस किम्वा रस हीन भाव,—यह कल्पना ही किया जा सकता नहीं, यथा,—

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
परस्परकृता सिद्धिरनयो रस भावयोः॥
(भरतकृत नाट्य शास्त्र)

अर्थ,—भाव हीन रस अथवा रस हीन भाव कल्पना नहीं किया जा सकता। रस और भाव दोनों में परस्पर सापेक्ष सम्बन्ध ही सिद्ध होता है!

भाव के स्पर्श से विषय में रसता तो आती है, किन्तु सब भाव द्वारा सब विषय में रसता नहीं आती। जो भाव जिस जातीय का है उसके द्वारा उसी जातीय विषय या वस्तु को ही रसता प्राप्त कराकर, वह उसी जातीय सुख या आनन्द का आश्रय हो जाता है। एक जातीय भाव द्वारा अन्य जातीय विषय को रसता प्राप्त नहीं कराया जा सकता। इसलिये 'भाव' और 'रस' निर्गुण और सगुण भेद से और सगुण में भी फिर सत्त्वादि भेद से बहुत प्रकार के या बहुत जातीय के होने पर भी, भाव ही विषय को रसता प्राप्त कराकर,

---

१—"श्रीलिङ्गादिषु च 'स्वरनेत्राङ्गविक्रिया।'—
इत्यत्रानुभावानामनुक्रान्तत्वात्तेषां च भावाङ्ग
भावादङ्गी भाव एव भक्तिरिति!"
(श्री भगवन्नाम कौमुदी ३य पः)

अर्थ,—लिङ्ग पुराण में भी 'गद्गद्स्वर, अश्रु, रोमाञ्चादि'—इस वाक्य से भक्तिरस के आनुभाव की गणना की गई है। अनुभाव, भाव का ही अंग है; अतएव यह समझ में आता है कि अनुभाव का अंगी भाव ही है भक्ति।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आनन्द का आश्रय हो जाता है,—भाव ही आनन्द की 'वृत्ति' है,—सुखास्वादन की यह प्रणाली सर्वत्र ही प्रयुज्य है।

मूलतः वही एक भाव ही फिर विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव, व्यभिचारिभाव प्रभृति रूप में बदलकर ही 'रस' सृजन करता है; इस विषय की विस्तारित आलोचना रसशास्त्र आदि में देखना चाहिये। हमने आपाततः (इस समय) केवल सहज व संक्षेप में आनन्द की वृत्ति की बात समझने के लिये केवल 'भाव' की बात का ही उल्लेख किया हैं। अब यह भी उपलब्धि करने की चेष्टा करेंगे कि यह 'भाव' और 'भक्ति' अभिन्न हैं और यही है आनन्द की वृत्ति या सुखास्वादन का उपाय। इसके समझने के लिये पहले यह अनुसन्धान करना होगा कि किस प्रकार से जीव आनन्दित होता है,—सुखोपभोग की प्रणाली क्या है?

आनन्द की 'वृत्ति' या सुखास्वादन का उपाय ही है—'भक्ति', 'भाव' या 'प्रियता'।

आनन्दिनी या ह्लादनी शक्ति ही सर्वानन्द की मूल है। आनन्द और भक्ति—यह दोनों भिन्न वस्तु नहीं है, ह्लादिनी जब भगवान के भीतर अवस्थान करती है, तब उसका नाम है—'शक्ति', और जब वही आनन्द सक्रिय अवस्था में भगवान के बाहर अवस्थान करती है, तब उसी का ही नाम है—'भक्ति'। आनन्दमय होकर भी श्री भगवान जिस आनन्द-वृत्ति द्वारा स्वयं आनन्दित होते हैं और दूसरे को आनन्दित करते हैं,—आनन्द को आनन्दित करने की यह निज सामर्थ्य विशेष या वृत्ति ही है 'भाव' या 'भक्ति'। आनन्द से भक्ति की यही विशेषता है। इसलिये भक्ति को ह्लादिनी का 'सार' या 'वृत्ति' कहते हैं। इसका ही दूसरा नाम,—'भाव' 'प्रियता' 'भालबासा' प्रभृति है।

निश्चल वायु जिस सामर्थ्य द्वारा अपने को संचालित करके सब जीवों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

को शीतलता प्रदान द्वारा परितृप्त करती है,—वायु से अभिन्न वायु की इसी सामर्थ्य विशेष को जिस प्रकार उसकी वृत्ति कही जा सकती है,—आनन्द और भक्ति में, यद्यपि दोनों एक हैं, इसी प्रकार की विशेषता समझना चाहिये। सुख का विषय सचमुच वर्तमान रहने पर भी जिस 'वृत्ति' या 'भाव' की सहायता के बिना उस की अनुभूति नहीं होती, आनन्द का विषय विद्यमान रहने पर भी हम जिसके अभाव से आनन्दित नहीं हो सकते, आनन्द की उसी वृत्ति-विशेष का ही नाम है भाव या भक्ति। भक्ति का प्रचलित अर्थ है भालवासा या प्रियता।

पुत्र के प्रति प्रियता का नाम स्नेह है, स्त्री के प्रति प्रियता का नाम प्रणय है, बन्धु के प्रति प्रियता का नाम सख्य है, गुरु जनों के प्रति प्रियता का नाम श्रद्धा है, इत्यादि। विभिन्न विषय के प्रति भावाख्य भालावासा विभिन्न नाम से उक्त होने पर भी वह सभी नाम, प्रियता या भक्ति के ही नामान्तर मात्र हैं। इस भालवासा या प्रियता के बिना किसी भी विषय से किसी को भी आनन्द ग्रहण करना सम्भव नहीं है। एक वाक्य में इसका नाम भाव है। भाव न रहने से कोई विषय भी प्रिय या सुख देने वाला नहीं होता।

सुख का विषय और आश्रय विद्यमान रहने पर भी भाव या प्रियता के अभाव से सुखास्वाद असम्भव।

हम जिस विषय से आनन्द ग्रहण करते हैं उसे आनन्द या सुख का विषय कहते हैं, और जो आनन्द ग्रहण करता है; उसे आनन्द या सुख का आश्रय कहते हैं। जिस तरह किसी भी विषय-सुख के आस्वादन करने के लिए सुख का विषय और सुख का आश्रय, यह दोनों ही प्रयोजनीय हैं, उसी तरह, साथ ही साथ, विषय से आश्रय को आनन्द ग्रहण करने के लिए यन्त्र या उपाय स्वरूप, आनन्द के विषय के प्रति प्रियतारूप एक अनुकूल मानसिक भाव या मनोवृत्ति की भी विद्यमानता अवश्य प्रयोजनीय है; नहीं तो आनन्द का विषय विद्यमान रहने पर भी कोई भी उससे आनन्दानुभव करने में समर्थ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नहीं हो सकता। सन्दूक में बन्द धन-दौलत का अधिकारी होने पर भी, चाभी के अधिकार के बिना वह धन-दौलत जैसे भोग का विषय हो सकता नहीं, वैसे ही आनन्द का विषय वर्तमान रहने पर भी, उस विषय के प्रति प्रियतारूप चाभी के न होने से उससे सुखास्वाद का अभाव ही रहता है; इसलिए भक्ति, भालवासा या प्रियता ही सब प्रकार के आनन्द की 'वृत्ति' या उसके आस्वादन का उपाय है।

माता पुत्र से स्नेह करके आनन्द का उपभोग करती है। पुत्र से माता आनन्दिता होती है इसलिए पुत्र आनन्द का विषय है और माता आनन्दिता होती है इसलिए माता आनन्द का आश्रय है; और उस पुत्र के प्रति भालबासा या प्रियता द्वारा ही माता सुखानुभव कर सकती है इसलिए 'भाव' या प्रियता को ही सुख-प्राप्ति का उपाय या उस आनन्द की 'वृत्ति' जानना चाहिए। प्रियता न रहने से माता पुत्र से आनन्द प्राप्त नहीं कर सकती। सभी पुत्र आनन्द के विषय होने पर भी, माता को अपने पुत्र की तरह दूसरे के पुत्र में प्रेम न रहने से, वह उस पुत्र से आनन्दिता नहीं होती; इसलिए यह समझ में आता है कि आनन्द का विषय रहने पर भी, जिनके प्रति प्रेम नहीं है, उनसे आनन्द भी नहीं है! भक्ति, भालवासा या प्रियता ही सुखास्वादन का उपाय या यन्त्र स्वरूप है।[१]

विषय के भेद से 'भाव' या "वृत्ति" की भिन्नता।

जिस प्रकार एक ही चाभी से सब बन्द सन्दूकें खोली नहीं जा सकती; किन्तु चाभी जिस जातीय या जिस प्रकार की होती है, उससे उसी जातीय या उसी प्रकार की सन्दूक ही खुलती है, उसी प्रकार आनन्द की वृत्ति, गुण कर्मादि के अनुसार से जिसकी जैसी है, उसके लिये उसी प्रकार का या वही जातीय

१—भक्तियन्त्रितः = भक्तिगृहीतः सन । (सिद्धांतरत्नम १।।५८ टीका द्रष्टव्यः)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सुख ग्रहण योग्य होता है। आनन्द से ही उत्पन्न होने के कारण सभी विषय में सुख है। मनुष्य और शूकर दोनों ही विषय भोग करके सुखी होते हैं। किन्तु शूकर जिस विषय से सुख प्राप्त करता है, वह मनुष्य के लिए घृणित है; और मनुष्य के लिए जो सुख का विषय है, शूकर के लिये वह निकृष्ट है। शूकर की आनन्द-वृत्ति या प्रियता जिस जातीय की है, उसी जातीय आनन्द के विषय से ही उसे आनन्द प्राप्त होता है। और मनुष्य की आनन्द-वृत्ति या प्रियतानुरूप उसी जातीय आनन्द का जो विषय है, उससे ही उसे आनन्द होता है। इसमें सन्देह नहीं कि यदि मनुष्य की वृत्ति शूकर को और शूकर की वृत्ति मनुष्य को प्राप्त करने की सम्भावना होती तो परस्पर के विपरीत विषय से, तुरन्त परस्पर आनन्द लाभ कर सकते। स्त्री के प्रति प्रियताविधान-पूर्वक स्वामी आनन्द प्राप्त करता है किन्तु प्रियता के अभाव के कारण वही स्त्री अपने सपत्नी को किञ्चत् मात्र भी आनन्द का विषय न होकर विष की तरह प्रतिभात होती है। और किसी भी एक विषय से बहुतों को आनन्द प्राप्त होने पर भी, आनन्द ग्रहण वृत्ति के या प्रेम के पार्थक्यवशतः वृत्तिअनुरूप आनन्द के पार्थक्य की भी उपलब्धि होती है। जैसे एक ही रमणी के प्रति प्रियता की भिन्नता वशतः उसके पिता, उसके पुत्र, उसके स्वामी, उसके भ्राता, उसके देवर सभी उससे सुखानुभव तो करते हैं परन्तु सुख की विभिन्नता रहती है। उक्त प्रकार किसी भी जागतिक दृष्टान्त के पर्यालोचना करने से हम यह सरलता से समझ सकते हैं कि आनन्द की वृत्ति ही आनन्दास्वादन का उपाय है, भक्ति, भाव या प्रेम की भिन्नता ही विभिन्न जातीय सुखानुभूति का कारण है; और साथ ही साथ यह भी प्रकाश हो जाता है कि प्रियता या भाव भक्ति का ही नामान्तर है।

**जो विषय जिसको प्रिय है, वह उस विषय का 'भक्त' है,
अतएव प्रियता ही भक्ति का नामान्तर है।**

किसी को किसी विषय के सुखास्वादन में अधिक प्रेम देखने से, लोग उसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उस विषय का 'भक्त' कहकर उल्लेख करते हैं। जैसे मिष्टान्न जिसे अधिक प्रिय है, उसे मिष्टान्न भक्त, मछली जिसे अधिक प्रिय है, उसे मत्स्य भक्त, अर्थ जिसे अधिक प्रिय है, उसे अर्थ भक्त, माता जिसे अधिक प्रय है, उसे मातृ भक्त, प्रभु जिसे अधिक प्रिय है, उसे प्रभु भक्त, कहकर उल्लेख किया जाता है,—इस प्रकार जिस विषय में जिसकी प्रियता अधिक देखी जाती है, उसे उस विषय का 'भक्त' कहा जाता है।

सर्वमूल होने के कारण, भगवत्-सम्बन्ध में ही भक्ति और भक्त नाम की प्रकृष्ट और परिपूर्ण सार्थकता

इसलिये आनन्द की वृत्ति का ही नाम भाव, प्रियता, भालवासा या 'भक्ति' है। भक्ति कहने से साधारणतः हम लोग भगवत् प्रियता ही समझते हैं और भक्त कहने से यह समझते हैं कि उसे भगवत् प्रीति है। वास्तव में एक मात्र भगवत् सम्बन्ध से ही भक्ति और भक्त नामों का अर्थ प्रसिद्ध है और इसी सम्बन्ध में ही उनकी परिपूर्ण सार्थकता है।

भक्ति, जीव का ऐसा स्वाभाविक धर्म है कि "श्री भगवान की भक्ति के अतिरिक्त जीव का दूसरा कुछ प्रयोजनीय या करणीय नहीं है।" यह तत्त्व हम जानें या न जानें, तब भी प्रत्येक जगत के व्यवहार में भी यह सत्य आप ही आप प्रकाशित हो जाता है। प्राकृत विषय भी उसी भगवत् शक्ति विशेष की ही परिणति (रूपान्तरित्व) है; इसलिये प्राकृत विषय के सुख की इच्छा उसी भगवत्-विषय-सुखस्पृहा की ही परिचायक है और इसमें सन्देह नहीं है कि, प्राकृत विषय में प्रियता या भक्ति, उसी भगवत्-भक्ति का ही निदर्शन मात्र है। दोनों में काया और छाया की तरह पार्थक्य है। पहले इस बात का उल्लेख किया जा चुका है।

अतएव जो प्राकृत आनन्द, हम लोगों का नित्य आस्वादित विषय सुख है,—वह अल्प, अविशुद्ध और क्षण भंगुर है और जो अप्राकृत प्रदेश-प्रवाहित

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आनन्द है,—वह भूमा, विशुद्ध और नित्य है, इसलिये वही यथार्थ सुख कहलाने योग्य है।

भक्ति या प्रियता के बिना प्राकृता-प्राकृत किसी प्रकार के आनन्द का आस्वादन नहीं किया जा सकता। यह बात भी हमने समझ लिया कि जिस प्रकार की भक्ति है, उसी जातीय आनन्द का ही आस्वादन होता है।

प्राकृत भक्ति और अप्राकृत—निर्गुणा भक्ति का पार्थक्य।

अतएव जो अप्राकृत आनन्द है, वही परमानन्द है और उसके आस्वादन का उपाय भक्ति है, किन्तु उस भक्ति का तज्जातीया होना आवश्यक है; इसी कारण से ही उसका नाम शुद्धा भक्ति है। काया और छाया की तरह प्राकृत भक्ति, शुद्धा भक्ति की मलिनाभास मात्र है। इसलिये यह मायिकी भक्ति है। शुद्धा भक्ति ही दूसरी भक्ति विशेष की मूल या मुख्य होने के कारण ही उसका दूसरा नाम मुख्या भक्ति है। भक्ति जैसी परिशुद्ध होगी, उसी जातीय विषय से वैसी ही परिशुद्ध आनन्द लाभ करना सम्भव होगा, यह बात पहले भी हम समझ चुके हैं। श्री भगवान सर्वापेक्षा विशुद्ध आनन्द के विषय हैं; इसलिये उस आनन्द के प्राप्त करने के लिये उसी प्रकार की सर्वापेक्षा विशुद्धा भक्ति अर्थात् शुद्धा भक्ति के अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं है। तभी तो श्रुति ने कहा है,—

"विज्ञानघन आनन्दघनः सच्चिदानन्दै-करसे भक्ति योगे तिष्ठति।"

(श्री गोपालोत्तर तापिणी—७६)

विज्ञान घनरूपा और आनन्दघनरूपा श्री भगवन्मूर्ति एक मात्र सच्चिदानन्दैकरस स्वरूप भक्ति योग द्वारा ही ग्राह्य होती हैं। एक मात्र शुद्धा भक्ति ही श्री भगवत् साक्षात्कार की हेतु-स्वरूपा है।

यदि किसी के पास सन्दूक की चाभी नहीं है तो वह जैसे उसके भीतर की सुखकर वस्तु का उपभोग नहीं कर सकता, उसी तरह परमानन्द स्वरूप

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भगवत्दर्शन प्राप्त करने की उपयुक्त भक्ति जिसमें नहीं है, उसके लिये श्री भगवान का, यद्यपि वह सदा सर्वत्र विद्यमान रहते हैं, तब भी भगवत् रूप में अनुभव करना सम्भव नहीं है। यही कारण है कि श्री भगवान के प्रकट काल में भी भक्ति के अभाव के कारण अनेक ज्ञानी, मानी व्यक्ति भी देखने पर भी उन्हें देख नहीं पाये, किन्तु साधारण दृष्टि में जो लोग तुच्छ, नगण्य (जिनकी किसी में गिन्ती न हो) माने जाते थे उनमें से भी अनेकों ने भक्ति की विद्यमानता वशतः भगवत-सन्दर्शन का सौभाग्य लाभ किया है। इस सम्बन्ध में श्री चैतन्य-भागवतकार ने जो लिखा है, उसी का हीं कुछ अंश लिखा जाता है,—

(प्रभूर आश्वास शुनि कान्देथ मुकुन्द।
धिक्कार करिया आपनारे बोले मन्द ॥)
"भक्ति न मानिलूं मुई एई छार मुखे।
देखिलेई, भक्तिशून्य कि पाइब सुखे ॥
विश्वरूस तोमार देखिल दुर्योधन।
जाहा देखिवारे वेदे करे अन्वेषण ॥
देखियाउ सवंशे मरिल दुर्योधन।
ना पाइल सुभ-भक्ति शून्येर कारण ॥
हेन भक्ति न मानिल आमि छार मुखे।
देखिले कि, हैव आर मोर प्रेम सुखे ॥
जखने चलिला तुमि रुक्मिणी हरणे।
देखिल नरेन्द्र सब गरुण वाहने ॥
अभिषेक, हैल, राजराजेश्वर नाम।
देखिल नरेन्द्र तोमा महा ज्योतिधाम ॥
ब्रह्मादि देखिते जाहा करे अभिलाष।
विदर्भ नगरे ताहा करिला प्रकाश ॥
ताहा देखि मरे सब नरेन्द्रेरगण।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ना पाइल सुख-भ क्त शून्येर कारण ।
सर्वयज्ञमयरूप-— कारण शूकर ।
आविर्भाव, हैला तुमि जलेर भतिर ।
अनन्त पृथ्वी लागि' आछये दशने ।
जे प्रकाश देखिते देवेर अन्वेषणे ।।
देखिलेक हिरण्य— अपूर्व दरशन ।
ना पाइल सुख-भक्ति शून्येर कारण ।।
आर महा प्रकाश देखिल तार भाई ।
जाहा गोप्य हृदयेते कमलार ठाँई ।।
अपूर्व नृसिंहरूप कहे त्रिभुवने ।
ताहा देखि मरे भक्ति--शून्येर कारणे ।।
हेन भक्ति मोर क्षार-मुखे ना मानिल ।
ए वड़ अद्भुत–मुख खसि' ना पड़िल ।।
कुब्जा; यज्ञपत्नी, पुरनारी, मालाकार ।
कोथाय देखिल तारा प्रकाश तोमार ।।
भक्ति योगे तोमारे पाइल तारा सब ।
सेई खाने मरे कंस—देखि, अनुभव ।।"

(श्री चैतन्यभागवत । मध्य—१०)

'रस'—-आनन्द का मूल या आश्रय ।

जीव मात्र ही जब किसी भी विषय से उसके प्रति 'भक्ति' या 'भाव, द्वारा आनन्द उपभोग करता है, तब वह आनन्द का विषय ही उसके लिये रस रूप में बदल जाता है । रस से ही आनन्द उत्पन्न होता है । जहाँ आनन्द है वहाँ उसके मूल में अवश्य ही रस की अवस्थिति समझना चाहिए । रस ही आनन्द का आधार है,—रस ही आनन्द का मूल या आश्रय है । रस के विना आनन्द नहीं है । यह बात भी हम पहले बता चुके हैं कि किसी विषय के प्रति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उस जातीय भक्ति या भाव या भालवासा चित्त में उदित होने से ही वह जातीय आनन्द अनुभव होता है। किन्तु और भी स्पष्टरूप में बताने के लिये यह भी कहना पड़ेगा कि किसी भी विषय के प्रति उसी जातीय भक्ति, भाव, या भालवासा चित्त में उदय होने से वह विषय ही 'रस' रूप में बदलकर उसी जातीय आनन्द की अनुभूति कराता है। रस से ही आनन्द की उत्पत्ति है; लौकिक व्यवहार में भी इसकी स्पष्ट उपलब्धि होती है, यथा,—काव्य श्रवणादि का आनन्द जिससे अनुभव होता है, उसे हम 'काव्यरस' कहते हैं। काव्य के प्रति जिसकी 'भाव' या भक्ति रूप अनुकूल मनोवृत्ति है, उसी के हृद संयोग से काव्य रसरूप में बदलकर उस काव्यामोदी को आनन्दित करता है। 'रस' न होने से केवल 'काव्य' किसी के लिये भी आनंद का विषय नहीं होता। उसी तरह विषयानन्द अनुभव होता है—विषय रस से, संगीत का आनन्द अनुभव होता है—संगीत रस से, सख्यता का आनन्द अनुभव होता है— —सख्यरस से, नाट्यामोद अनुभव होता है—नाट्य रस से, क्रीड़ा मोद अनुभव होता है—क्रीडा रस से, इसी तरह सर्वत्र ही समझना चाहिये!

आनन्द की घनीभूत या समूर्त अवस्था ही 'रस' है, सच्चिदानन्द घनमूर्त्ति रसराज—श्रीकृष्ण ही सब रसों के मूल या आदि कारण हैं।

'रस' आनन्द का घनीभूत या सविशेष भाव है, अर्थात् मूल या आश्रय है और आनन्द रस का निर्विशेष भाव या रस का कार्य विशेष है। श्रीकृष्ण ब्रह्म के सविशेष भाव या ब्रह्म के आश्रय है, ब्रह्मणोहि प्रतिष्ठाहम्"[१]—इसलिये वही रस स्वरूप हैं,—'रसराज' नाम उनसे ही सार्थक है, "रसो वै सः"[२] और ब्रह्म श्री भगवान का निर्विशेष भाव है, इसलिये वह आनन्द स्वरूप है,—"आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्" "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्"[३]। सब रसों के मूल, सभी

[१]—गीता १४।२७।२ [२]—तैत्तिरि २।७ [३]—तैत्तिरि ३।६।१

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आनन्द के आश्रय, सब सुखों के सार—स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ही यथार्थ रसराज या महारसमय हैं। इस रस के कण मात्र के आभास से ही चराचर निखिल विश्व विमुग्ध है।

इसलिये आनन्द ही ब्रह्म है, और उस आनन्द की समूर्त घनीभूत अवस्था या 'रस' ही रसराज श्री कृष्ण या श्री भगवान का स्वरूप है। यही कारण है कि शास्त्र श्री भगवान को आनन्दघन रूप में वर्णन करते हैं। सच्चिदानन्दघन मूर्ति, रसराज—स्वयं भगवान श्री कृष्ण ही श्रुति वर्णित "रसो वै सः" हैं। वह अनन्यापेक्षी सुकृत अर्थात् स्वयं-कर्ता या स्वयं-रूप श्री कृष्ण ही भाव भेद से ब्रह्म, परमात्मा और श्री भगवानरूप में प्रकाश होते हैं। अतएव श्री कृष्ण ही मूल और विशुद्ध रस सिन्धु हैं, और श्री भगवान की माया शक्ति-मिश्रित अविशुद्ध रस विन्दु ही प्राकृत विषय रस है; उसी से ही परिच्छिन्न, दुःख से पूर्ण विषयानन्द ग्राह्य होता है।

पूर्व वर्णित विषय का सारमर्म।

यहाँ तक आलोचना करने से हमारे जो कुछ समझ में आया है, उसका सारमर्म यह है कि,—

(१) आनन्द से जीव की उत्पत्ति है, आनन्द में ही अवस्थिति है और आनन्द में ही जीव लौट जाता है। आनन्द के बिना जीव मुहूर्तकाल मात्र भी विद्यमान नहीं रह सकता।

(२) आनन्दमय से उत्पन्न होने के कारण विषय मात्र में आनन्द विद्यमान ही है, किन्तु किसी विषय के प्रति वही जातीय भाव यदि नहीं है तो उस विषय से आनन्द लाभ नहीं किया जा सकता। गुण-कर्म के अनुसार से जो जिस जातीय भाव का अधिकारी हैं, उसे उसी जातीय विषय से उसके अनुरूप सुख का अनुभव होता है। एक जातीय भाव द्वारा अन्य जातीय विषय से सुख का अनुभव नहीं होता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(३) भाव का ही दूसरा नाम प्रियता, लालसा या भक्ति है। भक्ति ही आनन्द अनुभव करने का यन्त्र या उपाय-स्वरूप है, इसलिए इसे आनन्द की वृत्ति-विशेष कहते हैं। विशुद्धानन्द अनुभव करने का उपाय विशुद्धाभक्ति है, अविशुद्धानन्द अनुभव करने का उपाय अविशुद्धा भक्ति है। सात्विकी भक्ति द्वारा सात्त्विक सुख, राजसी भक्ति द्वारा राजसिक-सुख और तामसी भक्ति द्वारा तामसिक सुख की उपलब्धि होती है।

(४) रस के अवलम्बन से ही आनन्द का अनुभव होता है। आनन्द के विषय का ही नाम रस है; रस के बिना आनन्द होता नहीं। धूप बत्ती से जैसे सुगन्धि निकलती है, वैसे ही रस से आनन्द की उत्पत्ति होती है।

(५) भाव या भक्ति का संयोग ही, विषय को 'रस' रूप में परिणत करता है। विषय जब रस रूप में अनुभव होता है तभी उस रस से आनन्द की उपलब्धि होती है। भक्ति या भाव के संयोग के बिना कोई भी विषय 'रस' रूप में परिणत होता नहीं; इसलिए उससे सुख या आनन्द भी नहीं होता।

(६) जीव मात्र ही जब आनन्द को अवलम्बन करके ही विद्यमान है, और 'रस' से ही जब आनन्द अनुभव होता है, और 'भाव' या 'भक्ति' ही जब विषय को रस रूप में अनुभव कराने का एक मात्र उपाय है, तब इस विषय में कोई भी सन्देह नहीं रह जाता कि भक्ति ही आनन्द की नित्य सेविका है और जीव मात्र का साहज्रिक और स्वाभाविक धर्म है।

अप्राकृत शुद्धा भक्ति या 'भागवती-वृत्ति' और मायिकी भक्ति या 'वैषयिकी-वृत्ति' इन दोनों में कार्यतः एकता है किन्तु स्वरूपतः पृथक वस्तु हैं।

अतएव यह बात समझ में आ गई है कि भाव या भक्तिरूपा वृत्ति ही सब जीवों का आत्मधर्म है, भक्ति ही जीव का नित्यधर्म है, भक्ति के बिना जीव सुख हीन होकर मुहूर्तकाल मात्र भी विद्यमान नहीं रह सकता; किन्तु

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसके साथ ही हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि प्राकृत विषय-रस से विषयानन्द आस्वादन की उपाय स्वरूप भक्ति या भाव,—यथार्थ भक्ति की ही किञ्चित् मलिनाभासमात्र है।

काया और छाया में कथंचित् सादृश्य तो हैं किन्तु दोनों जिस तरह भिन्न वस्तु हैं, उसी तरह रसराज श्री कृष्ण के या रसमय समस्त भगवन्मूर्ति के सेवानन्द-आस्वादन की हेतु-भूता निर्गुणा शुद्धा भक्ति और प्राकृत विषयानन्द आस्वादन की हेतु-भूता मायिकी भक्ति, इन दोनों में सुखास्वादन की प्रणाली-गत सादृश्य होने पर भी स्वरूपगत यह दोनों 'वृत्ति' या भाव संपूर्ण पृथक हैं। एक है—अप्राकृतचिन्मयी "भागवती वृत्ति" या शुद्धा भक्ति, दूसरी है—प्राकृत गुणमयी "वैषयिकी-वृत्ति" या जड़ीया भक्ति। एक है—कृष्णेन्द्रिय-प्रीति इच्छा-मयी या 'प्रेम' नामक भक्ति, दूसरी है—आत्मेन्द्रिय-प्रीति-इच्छामयी या 'काम' नामक भक्ति। सोना और लोहा में या निर्मल सूर्य और घने अन्धकार में जिस प्रकार प्रभेद है— उक्त दोनों वृत्ति या दोनों भक्ति में उसी प्रकार ही पार्थक्य है। यथा,—

"काम, प्रेम दोहाकार, विभिन्न लक्षण।
लौह आर हेम जैछे स्वरूप विलक्षण॥
आत्मेन्द्रिय-प्रीति-इच्छा-तारे बुलि काम।
कृष्णेन्द्रिय-प्रीति-इच्छा-धरे प्रेम नाम॥
कामेर तात्पर्य निज सम्भोग केवल।
कृष्ण-सुखतात्पर्य होय प्रेम तो प्रवल।
अतएव काम प्रेमे बहुत अन्तर।
काम अन्धतम, प्रेम निर्मल भास्कर॥"

(श्री चै: १।४।)

भगवद्वशीकारहेतुभूता शुद्धा भक्ति का स्वरूप निर्णय।

एक मात्र शुद्धा भक्ति द्वारा ही श्री भगवान वशीभूत होते हैं, श्रुति और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्मृति प्रभृति सभी में इसका प्रमाण मिलता है।[१] इसलिये मधुव्रत जिस प्रकार शहद की लालच में अपनी इच्छा से फूल के अन्दर आबद्ध हो जाता है,—रसिक तरुण जिस प्रकार रसिका तरुणी के प्रेम पाश में खुशी से सम्बद्ध हो जाता है, उसी तरह श्री भगवान भी भक्त के प्रेम डोर में अपनी इच्छा से प्रसन्नता पूर्वक आबद्ध हो जाते हैं। भक्ति ही भगवान के वश करने का एक मात्र कारण स्वरूप है। निखिल विश्व जिसके वश में रह कर चालित होता है, ऐसे श्री भगवान को भी जो वशीभूत करती है,—महाप्रभावशालिनी उसी भक्ति के स्वरूप के सम्बन्ध में थोड़ा अवगत होना प्रयोजनीय है। इस विषय में सुप्रसिद्ध सिद्धांत-रत्नाकर के संक्षिप्त और सुरम्य विचार नीचे लिखे जाते हैं। यथा,—

"अत्रैवं पुनश्चिन्त्यते, भगवद्वशीकार हेतु भूता भक्तिः किं स्वरूपेति। किं प्राकृत सत्त्वमय ज्ञानानन्दरूपा किम्वा भगवज् ज्ञानानन्दरूपा अथवा जैव ज्ञानानन्दरूपा, उत ह्लादिनीसार समवेत सम्वित्सारररूपेति। नाद्यः भगवतो मायावश्यत्वा श्रवणात्, स्वतः पूर्णत्वाच्च। न द्वितीयः अतिशयासिद्धेः नापि तृतीयः, जैवयो-स्तयोः क्षोदिष्ठत्वात्। किन्तु चतुर्थ एवासौ भवेत्।(१।३८)

इसका अर्थ,—यहाँ फिर चिन्तीय यह है कि भगद्वशिकारिणी भक्ति का स्वरूप है क्या? वह क्या प्राकृत सत्त्वमय ज्ञानानन्द रूपा है? किम्वा भगवान

---

[१],—"भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेव भूयसीति—।"

(गोपाल ताः श्रुति)

अर्थ—श्री भगवान भक्ति के ही वश हैं। भक्ति ही भगवत्प्राप्ति का परम उपाय है।

"अहं भक्तपराधीनोह्यस्वतन्त्र इव द्विज—"

(श्री भा० ९।४।६३)

अर्थ,—मैं भक्ताधीन हूँ। भक्त के पास मेरी स्वतन्त्रता नहीं रहती। इत्यादि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के स्वरूप भूत ज्ञानानन्द रूपा है ? अथवा जीव में अवस्थित ज्ञानान्द रूपा है ? अथवा श्री भगवान के स्वरूप शक्ति के अन्तर्गत—ह्लादिनीसार-समवेत सम्वित्सार रूपा है ? इसके उत्तर में कहते हैं,—

प्रथम पक्ष—अर्थात् उसे कभी प्राकृत—सत्त्वमय ज्ञानानन्द कहा नहीं जा सकता क्योंकि श्री भगवान् स्वतः पूर्ण होकर भी जब भक्ति के वशीभूत होते हैं, तब भक्ति को ऐसा कहने से, भगवान की मायावश्यता स्वीकार करनी पड़ती है। किन्तु माया तो भगवान की दृष्टि के सामने आने में भी विलज्जता होती है,[1] इसलिए भगवान कभी ऐसी माया के वशीभूत नहीं हो सकते। द्वितीय पक्ष भी अतिशय असिद्ध है। क्योंकि भगवान जब भक्त की भक्ति से अधिक आनन्द अनुभव करते हैं तब यदि भक्ति उनकी स्वरूपानन्द होती तो उसके पूर्ण होने के कारण[2] ऐसे ज्ञानानन्द का आधिक्य प्राप्ति सम्भव न होती। तृतीय पक्ष भी स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि जीव का ज्ञानानन्द क्षुद्र या अल्प है, परिच्छिन्न और क्षयशील है; इसलिए इसकी गिनती कभी अखण्ड और विपुल ज्ञानानन्दरूपा नित्या भक्तिरूप में नहीं हो सकती। अतएव चतुर्थ पक्ष ही स्वीकार करना पड़ेगा; अर्थात् श्री भगवान की स्वरूपशक्ति के अन्तर्गत ह्लादिनी और सम्वित्-शक्ति की समवेत एकत्रित सार भाग या परमावस्था ही होती है 'भक्ति'।

इस भक्ति को भगवदानन्द की 'वृत्ति' भी कहते हैं क्योंकि यह आनन्द स्वरूप होने पर भी श्री भगवत्-सम्बन्धीय निखिल सुखास्वादन का एक मात्र उपाय स्वरूप होती है। इसी कारण से शुद्धा भक्ति का ही दूसरा नाम 'भागवती वृत्ति' है। यह तत्त्वतः 'शक्ति' रूप से भगवान में

१—"विलज्जमानया यस्य स्थातुमीक्षापथेऽमुया।" इत्यादि।
(श्री भा: २।५।१३)

२,—"पूर्णमदः पूर्णमिदमित्यादिश्रुतिभ्यः।" (वृ : आ : ५।१)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नित्य विद्यमान तो रहती है, किन्तु स्वरूपता जब तद्विषया वृत्ति रूप में उन के बाहर में अवस्थान करती है, तब इसका नाम होता है 'भक्ति'। इस भक्ति या भगवती वृत्ति के विक्षेप से ही भगवान रस रूप में परिणित होकर नित्य ही अपने को और भक्तों को आनन्दित करते हैं। समस्त वृत्ति, समस्त रस और समस्त आनन्द का निखिल सुखास्वादन प्रणाली का यही मूल केन्द्र है।

स्वरूप-शक्ति के अन्तर्गत भक्ति-निर्झरिणी निर्गुणा सगुणा दो पृथक धारा से विश्व-प्रपंच में नित्य प्रवाहिता।

श्री भगवान के स्वरूप-वैभव की परमसम्पद वह भक्ति निर्झरिणी दो पृथक धारा से विश्व-प्रपंच में नित्य प्रकटित रहती है। इनमें से प्रथम धारा स्वरूप-वैभवस्थ नित्य परिकरों से लेकर, भुवन-पावनी मन्दाकिनी-प्रवाह की तरह, भक्त परम्परारूप आवरण में आधुनिक भक्तगण पर्यन्त सर्वत्र परिव्याप्त है।[1] केवल या इच्छिक महत् सङ्ग के द्वारा ही इसका लाभ होना सम्भव होने के कारण से ही इसे सुदुर्लभा कहा जाता है। महत्सङ्ग और तदुत्थित श्री हरिकथा श्रवण-कीर्तनादिरूपा भक्ति—एक साथ इन दोनों कारणों के संयोग से ही शुद्धाभक्ति जीव के हृदय में सञ्चारित होती है और अनादि-बहिर्मुख जीव को कृष्णोन्मुख कराकर श्रद्धादि क्रम से,—साधन, भाव और प्रेम भक्ति रूप में उदित होकर,—निज मुख्यफल श्रीकृष्ण सेवा प्रदान करती है। इसी का ही नाम है निर्गुणा—शुद्धा भक्ति वा 'भागवती वृत्ति।' - शास्त्र-वाक्य, यथा,—

---

[1]—"एषा तु भक्तिस्तन्नित्य परिकरगणादारभ्ये दानीन्त नेवपि तद्भक्तेषु मन्दाकिनीव प्रचरित।"

(सिद्धान्तरत्नम् १ म पाद ५४ अनुः।)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।
तज्जोषणादाश्वपवर्ग वर्त्मनि
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ।।
(श्री भाः ३।२५।२५)

इसका अर्थ--श्री भगवान ने कहा,—साधुओं के प्रकृष्ट सङ्ग द्वारा, हृदय और कानों को तृप्ति देने वाली मेरी वीर्य प्रकाशक कथा, (अर्थात् श्री भगवन्नाम-रूप-गुण-लीलादि कथा) आविर्भूता होती है। उसी कथा के आस्वादन मे अपवर्ग-वर्त्मस्वरूप (अर्थात् जिनके पास जाने के रास्ते में पहले ही मुक्ति को देखा जाता है—ऐसे भगवान) मुझ में शीघ्र श्रद्धा, अर्थात् श्रद्धा पूर्विका साधन भक्ति, रति (अर्थात् भाव भक्ति) और प्रेम भक्ति यथा क्रम से उदित हो जाती है।

दूसरी धारा भक्त परम्परा के आवरण में प्रवाहित न होकर, उन्मुक्तभाव से ही अर्थात् शास्त्रोक्त और साधारणतः कथित श्री हरिकथादि रूप से जगत में नित्य ही स्वप्रकाश रहती है। अनावृत भाव से प्राकृत विश्व-प्रपञ्च के नाना गुण सम्बन्ध के भीतर से प्रवाहित होकर, स्वयं निर्मल और विशुद्ध होने पर भी, सत्त्वादि त्रिगुण रंग के मिलने से रूपान्तरित होकर "सगुण भक्ति" के नाम से सब जीवो के लिये सहज-लभ्य रूप में जगत में अवस्थान करती है। भक्ति-सम्बन्ध के बिना दूसरा कोई भी साधन फल प्रदान नहीं कर सकता; इसलिये यह भक्ति चिन्तामणि की तरह, निखिल सकाम साधकों के साधना के अंगरूप में निहित रहकर, उनकी भुक्ति, मुक्ति, सिद्धि कामनायें पूर्ण करने के लिये, उन सब साधनों को प्राणदान करती रहती है। पूर्वोक्त प्रथम धारा के संयोग न होने तक दूसरे किसी भी उपाय से अनादि बहिर्मुख जीव के हृदय में कृष्ण-उन्मुखता अर्थात् "श्री कृष्ण ही सब के प्रभु हैं—मैं उनकादास हूँ" --यह शुद्धा बुद्धि उदय नहीं होती। यही कारण है कि सगुण भक्ति के ग्रहणकाल में भी, जीव के हृदय में "मैं कर्ता हूँ," "मैं भोक्ता हूँ" ऐसा प्रभुत्व-बोध विद्यमान

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रहने से, सगुण भक्ति ऐसे सकाम साधकों को उनके इच्छानुरूप पाप-नाश, नरक निवारणादि से लेकर भुक्ति, मुक्ति, सिद्धि तक अपना गौण फल मात्र ही प्रदान करती है, किन्तु मुख्य फल—श्रीकृष्ण सेवानन्द केवल शुद्धा भक्ति के रूप में ही प्रदत्त होता है।

इस तरह से अब यह हमारे समझ में आ गया कि, केवल आनन्द ही आनन्दास्वादन का कारण नहीं है, अपितु 'रस', 'आनन्द' और 'भाव' या 'भक्ति' इन तीनों के एकत्र समावेश से समस्त आनन्द की उपलब्धि हुआ करती हैं।

जो सर्वमूल, विशुद्ध और पूर्ण रस है—वही हैं रसराज स्वयं भगवान श्रीकृष्ण !

जो सर्वमूल, विशुद्ध और पूर्ण आनन्द है—वही है—ह्लादिनी शक्ति।

जो सर्वमूल, विशुद्ध और पूर्ण भाव है—वही है—शुद्धा भक्ति।

जीव पूर्णानन्द के प्रादुर्भूत होने के कारण निरन्तर पूर्णानन्द के ही अन्वेषण में तत्पर।

प्राकृत विषय रस, प्राकृत आनन्द और प्राकृत भाव या भक्ति, यह सब उसी विशुद्ध और पूर्ण रस, आनन्द और भक्ति की विन्दुमात्र के मलिनाभास हैं; इसलिये क्षण भंगुर, दुःखमय और अल्प है।

जीव उसी पूर्ण से ही उत्पन्न होने के कारण—जीव उसी पूर्ण का ही सन्तान होने के कारण पूर्णता को प्राप्त होने के लिये ही निरन्तर व्याकुल रहता है। पूर्णानन्द का आस्वादन करना ही जीव का स्वभाव या स्वपद है। इस स्वभाव या स्वपद से विच्युति ही जीव के सब अभाव और विपद का कारण है। संसारी जीव मात्र ही अभाव या विपद ग्रस्थ है; इसका कारण यह है कि जीव अपने स्वरूप को भूल गया है; इसलिये आत्मवञ्चित है,—माया-प्रतारित (माया द्वारा छला गया) है। विषय सुख

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सभी जीव अधिक चाहते हैं,—इस अधिक चाहने का मतलब ही होता है, जीव की पूर्णानन्द प्राप्ति की पिपासा।

अल्प और क्षयशील, प्राकृत विषय सुख, पूर्णानन्द-पिपासातुर जीव की पूर्ण प्यास की निवृत्ति के लिये पर्याप्त नहीं है, तभी तो सभी जीव हर समय सचञ्चल है; यह चाञ्चल्य ही अहर्निश कर्मशीलता रूप से जीव में प्रकाश होता है। जानकर हो, या न जानकर हो, विशुद्ध और पूर्णानन्द के अनुसन्धान के लिये ब्रह्मा से लेकर क्षुद्र कीटाणु पर्यन्त सभी सर्वदा सचञ्चल या सचेष्ट हैं। आस्तिक हों, चाहे नास्तिक हों—हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध, ईसाई, जैन, जोरेस्त्रान,—चाहे कोई भी क्यों न हों, चाहे किसी भाव से हो सभी का वही पूर्णानन्द ही प्रयोजन है—न कि परिच्छिन्न विषय सुख। चिकित्सा, ज्योतिष, व्याकरण, रसायन, विज्ञान, दर्शन, शिल्प, साहित्य सभी विद्या का भी यही एक मिलित उद्देश्य[1] है,—आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति और पूर्ण सुख प्राप्ति। यह बात सभी चिन्ताशील व्यक्ति के समझ में आ सकेगी।

'भूमानन्द' और 'अल्प' अर्थात् परिच्छिन्न और क्षयशील विषयानन्द या वैषयिक सुख में पार्थक्य।

किन्तु पूर्णानन्द के बिना, 'भूमा' के बिना, 'अल्प', क्षणिक और आखिल विषयानन्द से जीव की अनन्त सुख पिपासा मिटने की सम्भावना कहाँ? तभी तो परम करुणामयी श्रुति देवी ने जीव को 'भूमा' और 'अल्प' इन दोनों प्रकार के आनन्द का परिचय प्रदान पूर्वक जो अल्प है उसे त्याग करके भूमा के अनुसन्धान में ही अग्रसर होने के लिये निर्देश किया है, यथा,—

---

[1],—श्री भगवान में ही सब शास्त्रों का समन्वय है, इस विषय में श्री श्रीजीव गोस्वामिपादकृत श्री भगवत्सन्दर्भीय-सर्वसम्वादिनी ग्रंथ के शेषांश में—"सर्वैश्च वेदैः परमोहि देवो जिज्ञास्यः"—इत्यादि उपक्रम से लेकर परवर्त्ती अंश देखना चाहिये।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"यद् वै भूमा तत् सुखमानाल्ले सुखमस्ति भूमैव सुखम्। यत्र नान्यत् पश्यति नान्यत् श्रणोति नान्यद्विजानाति सभूमा। अथ यत्रान्यत् पश्यति अन्यत् श्रोणोति अन्यद्विजानाति तदल्पम्। यो वै भूमा तदमृतम्। अथ यदल्पं तन्मर्त्यम् ॥" (छन्दो ७।२३-२४)

इसका अर्थ,—अल्प में सुख नहीं, 'भूमा ही सुख' है। 'भूमा' क्या है? इसे बताते हैं; जिसे देखने पर फिर और कुछ देखना शेष नहीं रहता; जिसके सुनने पर फिर और कुछ सुनना अवशिष्ट नहीं रहता और जिसके जान लेने पर, फिर कुछ जानना रहता नहीं,—वही है 'भूमा'। और जिसके देखने पर कुछ देखना रह जाय, कुछ और सुनना और जानना शेष रहे, वही है 'अल्प'। जो भूमा है वही है अमृत; और जो अल्प है—वही है चिरतप्त संसारमरु—मृगतृष्णा।

मायाबद्ध जीव की दुःखनिवृत्ति और सुख प्राप्ति के लिये ही जावतीय चेष्टा।

अनादिकाल से संसार-कारावद्ध जीव, दुःख छुड़ाने और सुख पाने के लिये ही अशेष प्रकार से चेष्टा करता रहता है। कोई जो कुछ करता है, उससे उसका लक्ष्य रहता है—जिहासा या दुःख और दुःख के हेतुभूत विषयों की परिहार इच्छा और अभीप्सा या सुख और सुख के हेतुभूत विषयों की प्राप्ति इच्छा। अतएव जिहासा या त्याग-इच्छा और अभीप्सा या ग्रहण-इच्छा, सब कर्मों के यह दो ही उद्देश्य रहते हैं। जिहासा और अभीप्सा के अतिरिक्त जीव की दूसरी और कोई इच्छा नहीं रहती; त्याग और ग्रहण को छोड़कर कोई दूसरा कार्य नहीं है; सभी जीवों के सभी कार्य त्याग-ग्रहणात्मक हैं। किन्तु क्या त्याग करना चाहिये और क्या ग्रहण करना चाहिये, हम मायाहत जीव अपनी परिच्छिन्न बुद्धि द्वारा उसके निर्णय करने में असमर्थ हैं, इसलिये करुणामयी श्रुति माता हम लोगों को 'भूमा' और 'अल्प' का सम्वाद नाना भाव से, नाना प्रकार से, अवगत कराकर, इस सार-सत्य की घोषणा करती है कि उसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पूर्ण की प्राप्ति के अतिरिक्त अपूर्ण जीव के चिर अभाव—चिर अपूर्णता की निवृत्ति का दूसरा उपाय नहीं है।

ब्रह्माण्ड के मायिक विषय-सुख का तारतम्य।

वैषयिक सुख परमानन्द से बिल्कुल भिन्न पदार्थ न होने पर भी, अल्प या परिच्छिन्न व क्षयशील और माया विमिश्रित हैं; और भूमा या परमानन्द, पूर्ण और माया सम्बन्ध से परिशून्य है। निखिल ब्रह्माण्डान्तर्गत ब्रह्मलोक से भूलोक तक और भूलोक से नीचे के दूसरे सभी लोक उसी पूर्णानन्द की मात्रा किम्बा आभास मात्र अवलम्बन करके अवस्थान करते हैं। ऊपर केसभी लोकों के आनन्द यथा क्रम से अधिकतर और ब्रह्मलोक का आनन्द दूसरे लोकों की अपेक्षा सर्वाधिक होने पर भी 'भूमा' या परमानन्द सिन्धु की तुलना में वह विन्दु मात्र हैं। इसलिये यह स्थिर भाव से चिंता करके समझने का विषय है कि हम जिस विषय-सुख पाने के लिये सर्वदा यत्न करते हैं और जिसके प्राप्त करने के लिये निरन्तर लालायित रहते हैं, वह मनुष्य लोक का आनन्द, पूर्णानन्द की तुलना में कितना अल्प, कितना तुच्छ और कितना नगण्य है। किस लोक में परमानन्द की कितनी मात्रा लोग उपयोग किया करते हैं, यह बात हम श्रुति देवी की कृपा से कुछ जान सकते हैं।

श्रुति ने कहा है,—"स यो मनुष्याणां राद्धः समृद्धो भवत्यन्येषामधिपतिः सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः सम्पन्नतमः स मनुष्यानां परम आनन्दोऽथ ये शतं मनुष्यानामानन्दाः स एकः पितृणां जितलोकानामानन्दोऽथ ये शतं पितृणां जितलोकानामानन्दाः स एको गन्धर्व लोक आनन्दोऽथ ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाः स एकः कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसम्पद्यन्तेऽथ ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एक आजान देवानामानन्दो यश्चश्रोत्त्रियोऽ-वृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतमाजान-देवानामानन्दाः सः एकः प्रजापतिलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतं प्रजापति लोक आनन्दाः स एकोब्रह्मलोक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथैस एव परम आनन्दः ।”—(वृः आः ४।३।३३)[1] ।

इसका अर्थ—मनुष्य लोक में जो राद्ध अर्थात् अविकलाङ्ग (पूर्ण अंग वाले), समृद्ध अर्थात् समजातीय सकल के अधिपति—स्वतन्त्र, सर्वविध मानवीय भोगोपकरण सम्पन्न, (मनुष्यों में यदि कोई ऐसा हो) हैं, वही मनुष्य लोक का परमानन्द भोग करते हैं—मनुष्यों में वही परम सुखी हैं। ऐसे मनुष्य, परमानन्द की जो मात्रा उपभोग करते हैं, उससे सौ गुना अधिक—जित लोकवासी पितृगण का आनन्द है; और जित लोकवासी पितृगण जिस परिमाण में आनन्द उपभोग करते हैं, उससे गन्धर्व लोक का आनन्द शतगुना अधिक है; गन्धर्व लोक वासी का जिस परिमाण में आनन्द है, उससे कर्म देवतागण का आनन्द शतगुना अधिक है; फिर कर्मदेव-लोकवासी के आनन्द से शतगुना अधिक—आजानदेवगण का आनन्द है; आजानदेवलोक में जिस परिमाण में आनन्द है, उससे प्रजापति के लोक का आनन्द शतगुना अधिक है जिसे अपाप-विद्ध—अकामहत वेदविद् उपभोग करते हैं। फिर प्रजापति लोकवासी जो आनन्द उपभोग करते हैं,—उससे ब्रह्मलोक का आनन्द शतगुना अधिक है जिसे निष्पाप और निष्काम वेदज्ञगण भोग करते हैं। यही है परमानन्द ।

रसलोक या श्रीकृष्ण लोक ही निखिल 'रस', 'भाव' और 'आनंद' का सर्व मूल-उत्स या केन्द्रस्थल ।

त्रिभुवन-पावनी गंगा जिस तरह विरजा या कारणार्णव की एक बूँद से आविर्भूत हुई हैं उसी तरह ब्रह्मानन्द रूप परमानन्द भी कृष्णानन्द सिन्धु का

१,—उक्त आनन्द मीमांसा की दूसरी एक पूर्ण तालिका तैत्तिरीयोपनिषद में (२।८) देखना चाहिये ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का केवल एक विन्दु है[1]। प्रमाण सहित इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

रस व भाव के और भाव व रस के परस्पर विक्षेप या आवर्तन से ही निखिल आनन्द का विकाश होता है। जो सर्वमूल 'भाव', जो सर्वमूल 'रस' और जो सर्वमूल 'आनन्द' है,—वह केवल 'रसलोक' या श्री कृष्णलोक की ही सम्पद है।

(१) सर्वमूल रस की मूर्त अवस्था ही हैं रसराज श्रीकृष्ण।

(२) सर्वमूल भाव की मूर्त अवस्था ही है महाभाव-स्वरूपिणी—श्री राधिका और उनकी काव्ययूह-स्वरूपा श्री व्रज-रामागण।

(३) सर्वमूल आनन्द की मूर्त अवस्था ही है ह्लादिनी की विलास भूमि—श्री रासमण्डल !

रसलोकस्थ उक्त त्रिधारा के उत्स के आवर्तन (चक्कर-घुमाव) से सर्वमूल आनन्द निरन्तर उत्सारित होता रहता है, उसके ही एक विन्दु से ब्रह्मा-

---

१,—कारणार्णव की एक कणा या एक विन्दु से ही पतितपावनी गङ्गा का आविर्भाव हुआ है; यथा,—

"वैकुण्ठ बाहिरे जेइ ज्योतिर्मय धाम।
ताहार बाहिरे कारणार्णव नाम॥
वैकुण्ठ वेड़िया एक आछे जलनिधि।
अनन्त अपार तार नाहिक अवधि॥"
"चिन्मय जल सेइ परम कारण।
जार एक कणा गंगा पतित पावन॥"

(श्री चैः आदि। ५ पः)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नन्द सिन्धु का आविर्भाव हुआ है—इस आनन्द की मात्रा या आभास का तारतम्य ही चतुर्दशभुवनात्मक सभी प्राकृत लोकों का उपजीव्य है।[२]

ऊर्ध्व लोकवासी का आनन्द कैसा है, इसकी धारणा करने में हम लोग असमर्थ हैं। हम लोगों के इस अक्षमता या अयोग्यता का कारण है—श्रेष्ठतर जातीय विषय रस से श्रेष्ठतर जातीय आनन्द के अनुभव करने का उपाय स्वरूप श्रेष्टतर जातीय 'भाव' या भक्ति रूप श्रेष्ठतर वृत्ति का अभाव। 'भाव' या 'भक्ति' है आनन्दास्वाद की 'वृत्ति' या उपाय। गुणकर्मानुसार जो जीव जिस जातीय वृत्ति का अधिकारी है, उसी जातीय विषय-रस से उसको वही जातीय आनन्द उपभोग करने का अधिकार है। निकृष्ट जातीय वृत्ति द्वारा उत्कृष्ट जातीय और उत्कृष्ट जातीय वृत्ति द्वारा निकृष्ट जातीय विषयानन्द उपभोग करना असंभव है। अतएव मनुष्य, गुणकर्मानुसार जिस जातीय भाव या भक्ति

२,—श्रीकृष्णलोकस्थ ह्लादिनी शक्ति ही जिस तरह सर्वमूल पूर्णानन्द है; जिस आनन्द के एक विन्दु से ब्रह्मानन्द-सिंघु की उत्पत्ति है और जिसके ही कियन्मात्रा या आभास का तारतम्य ही सब लोकों में स्थित सभी जीवों का उपजीव्य है, उसी तरह ज्ञान के सम्बन्ध में भी वही एक ही धारा समझना चाहिये। अर्थात् श्रीकृष्णलोकस्थ सम्वित शक्ति की साररूपा वृत्ति ही है—सर्वमूल पूर्णज्ञान, जिसके द्वारा कृष्ण में स्वयं भगवत्ता ज्ञान उदय होता है। उसी सम्वित के अंश द्वारा—सम्वित् सिन्धु के विन्दु से ब्रह्म-परमात्मादि ज्ञान का विकाश होता है। फिर उसका ही कियन्मत्रा या आभास का तारतम्य ही सब लोकों के सब प्रकार के ज्ञानरूप में प्रकाश होता है। यथा,

"कृष्णे भगवत्ता ज्ञान सम्विदेर सार।
ब्रह्मज्ञान आदि सब जार परिवार॥"
(श्री चैः।१।४)

सन्धिनी शक्ति के संबंध में भी उक्त प्रकार एक ही धारा समझना चाहिये।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का अधिकारी है, उसी वृत्ति द्वारा आस्वादित, वही जातीय विषय रस ही उसे सर्वोत्कृष्ट सुखकर पदार्थ या परमानन्द अनुभव होना और उससे अपकृष्ट जातीय विषय सुख उसे त्यागने-योग्य मालूम होना सम्पूर्ण युक्ति सङ्गत ही है। निकृष्ट जातीय वृत्ति के अधिकारी को उत्कृष्ट जातीय विषय रस में स्थापन करने पर भी उससे रस बोध न होगा अर्थात् उसकी उपलब्धि उसे आनन्द के कारणरूप में न होगी, इसलिये उत्कृष्टतर आनन्द के उपभोग करने के लिये उत्कृष्टतर वृत्ति का अधिकार प्राप्त करना आवश्यक है, भाव या भक्ति ही आनन्द प्राप्त करने की वृत्ति है। तभी तो वृत्ति अनुरूप विषयरस के आस्वादन में ही जीव की प्रवृत्ति देखी जाती है।

आनन्द की वृत्ति या भक्ति ही रसास्वादन का उपाय।

तैलपायिका[1] (तेला पोका) कूड़ा से भरे अन्धकार गृहस्थित टूटे घड़े में रहने के सुख को ही परमानन्द समझता है। संगमर्मर के बने हुए राजग्रह में रहने का सुख उसके लिये निरर्थक है। उसके अधिकार अनुरूप जो जातीय वृत्ति या भाव है, वही जातीय विषय-सुख ही उसके लिये परम प्रिय है।

काले गोबरैला कीड़ा के लिये तो संगमर्मर निर्मित सुसज्जित राज ग्रह बेकार है किन्तु मनुष्य को वह जैसे सुख का विषय है और अन्धकार पूर्ण टूटे कलस में रहने का सुख, जैसे हेय व घृणा के योग्य बोध होता है, उसी तरह ऊर्ध्वलोक वासी को मनुष्यलोक का विषय सुख अत्यन्त हेय और उनके उच्चतर वृत्ति के अधिकार अनुरूप उच्चतर भाव लब्ध, उच्चतर विषय सुख उपादेय बोध होते हैं। और उऊर्ध्वतर लोकवासियों का जो आनन्द का विषय है, उसी जातीय वृत्ति के अभाव के कारण वह मनुष्यों के धारणा के अतीत है—बुद्धि के अगम्य है इसलिये उनके लिये निरर्थक हैं। अतएव यह समझना चाहिये कि

१—एक प्रकार का कीड़ा है जिसे काला गोबरैला कहते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उत्कृष्टतर सुख का विषय विद्यमान रहने पर भी ऐसा नहीं है कि वह सभी को ग्राह्य या सुखकर होगा—उत्कृष्टतर सुखास्वादन की वृत्ति या अधिकार रहने से ही उस आनन्द के उपभोग की सम्भावना है, नहीं तो नहीं।

शुद्धा भक्ति या भागवती-वृत्ति ही सर्व भक्ति का मूल या केन्द्र स्थल।

अतएव आनन्द ही जब सब जीवों का उपजीव्य है; तब उसके आस्वादन का उपाय स्वरूप भक्ति ही सब जीवों का नित्य धर्म और नित्य-प्रयोजन है। भक्ति ही सर्वानन्द आस्वादन की वृत्ति या उपाय है। भक्ति के विशेषत्व के अनुसार ही विशेष विशेष आनन्द ग्राह्य होते हैं। जो सर्वमूल 'रस' और 'आनन्द' है—वही रसशेखर श्रीकृष्ण हैं और श्रीकृष्ण सेवानन्द प्राप्ति के एकमात्र उपाय का नाम ही 'शुद्धा भक्ति' या 'भागवती-वृत्ति' है—यही है सब जीवों का मुख्य प्रयोजन।

अब कर्म या धर्म[1] विषयक विचार द्वारा भक्ति की सर्व-धर्मता और परम-धर्मता प्रतिपादित होगी।

अस्थिर या सचञ्चल जगत् गति की मूर्ति।

कुछ स्थिर भाव से चिन्ता करने पर यह समझ में आ सकता है कि, जगत गति की मूर्ति है। जीव-जड़ात्मक निखिल विश्व-संसार का सभी कुछ गतिशील है,—सभी अस्थिर—सचञ्चल है। प्राकृत या जड़जगत में निरन्तर उत्पत्ति, जन्मान्तर-स्थिति, वृद्धि विपरिणाम, अपक्षय और विनाश,—इस षड्भाव विकार का आवर्तनरूप अस्थिरता परिलक्षित होती है। हर समय परिणाम-

१—वेदादि शास्त्रविहित कर्म का नाम है 'धर्म'।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शील प्राकृत जगत का यह चाञ्चल्य जड़ का स्वाभाविक धर्म है। अनादि और अनन्त काल में किसी एक दिन भी इस बिगाड़ने बनाने की गति या चाञ्चल्य का विराम असम्भव है। नश्वर जड़ का यही स्वधर्म है। प्रलय में भी अव्यक्तरूप में यह अस्थिरता निहित रहती है और सृष्टि के समय फिर व्यक्त हो जाती है।

स्थिर वस्तु होकर भी जीव के अस्थिर होने का कारण।
वासना और कर्म-चांश्चल्य रूप में ही जीव में गति का प्रकाश।

दूसरी ओर चिद्वस्तु होने के कारण जीव स्वभावतः स्थिर या अचन्चल है। जन्मादि रहित, नित्य, शाश्वत और अपरिणामी वस्तु है[1]। ऐसा होने पर भी माया वद्ध सभी जीवों में एक क्षण के लिये भी स्थिरता लक्षित नहीं होतीं, कृष्ण-विस्मृत जीव की अनादि चिद्-वैमुख्य और जड़-साम्मुख्य ही इसका मूल कारण है।

अर्थात् स्थिर या चिद्वस्तु जीव, अस्थिर या अचिद्—जड़वस्तु के सहित आत्म-बोधरूप तादात्म्य प्राप्त होने से अनित्यता और अस्थिरतादि सभी जड़ धर्म जीव मे आरोपित हो जाते हैं इस लिये जीव-जगत में भी निरन्तर

१—न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं
भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ (गीता २।२०)

अर्थ—यह आत्मा जन्महीन, मृत्युहीन है—यह पुनः पुनः उत्पन्न होती नहीं, वर्द्धित होती नहीं, यह जन्मरहित, नित्य, अविनश्वर और अपरिणामी है, शरीर के विनाश से यह विनष्ट होती नहीं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विषय-वासना[१] के कारण कर्म-चाञ्चल्य परिदृष्ट होता है। तभी तो सभी जीव कर्मशील हैं। जीव-साधारण आधे क्षण भी कर्मशून्य होकर अवस्थान करने में असमर्थ है।[२]

अनादि वहिश्चरता वशतः 'भूमा' या पूर्ण की ओर पीठ करके 'अल्प' या अपूर्ण और अस्थिर जड़ में अभिनिवेश अर्थात् जड़ साम्मुख्य और जड़ तादात्म्य होना ही जीव के सभी अभाव और अपूर्णता का कारण है। दिक्-भ्रान्ति वशंतः सुनिर्मल—सुशीतल अनन्त जल राशि की ओर पीठ कर प्यासे व्यक्ति के लिये जैसे मरु-मरीचिका के अनुसरण द्वारा कभी भी प्यास का मिटना सम्भव नहीं होता, उसी तरह चिद् वैमुख्यवशतः 'भूमा' या परमानन्द की प्यास से व्याकुल जीव के लिये, 'अल्प'—क्षणभङ्गुर जड़ीय-विषय-सुखाभास-मरीचिका के अनुसरण से कभी भी सुख-पिपासा-परितृप्ति की या पूर्णता

१—पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृति जान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।
(गीता १३।२१)

अर्थ—पुरुष (जीवात्मा) अपने को शरीर समझ कर शरीर में अधिष्ठित होने से, देह जनित सभी प्राकृत गुण भोग करता है, प्राकृत गुण का संग ही उसके सत् (देवतादि) किम्वा असत्य (तिर्यगादि) योनि में जन्म लेने का कारण होता है।

२—न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्य कर्म कृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
(गीता ३।५)

अर्थ—कोई कर्मत्याग करके एक क्षण भी अवस्थान करने में समर्थ नहीं होता। क्योंकि जीव की इच्छा न रहने पर भी प्रकृति या स्वभाव से उत्पन्न राग द्वेषादि सभी गुण उससे कर्म कराते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्राप्ति की सम्भावना नहीं है। तभी तो प्रापञ्चिक विश्व-संसार के सभी जीव सभी पदार्थों को अपूर्ण अनुभव कर, प्रतिक्षण-प्रति-नियत पूर्णता प्राप्ति की कामना से अस्थिर रहते हैं। तभी तो देखने में आता है कि जगत् गतिशील-गति की मूर्ति हैं। जगत का कुछ भी एक क्षण के लिये भी सुस्थिर नहीं है। जड़-जगत का यह चाञ्चल्य तो स्वाभाविक है परन्तु स्थिर जीव-जगत की यह अस्थिरता तो अस्वाभाविक ही समझना चाहिये।

परमानन्दरूप परम स्थिरता या प्रकृष्ट स्थिति को प्राप्त होना ही जीव की सभी गति का उद्देश्य।

इस अस्वाभाविकता के कारण के सम्बन्ध में कुछ और स्थिर भाव से विचार करने पर समझ में आ सकता है कि अस्थिरता के लिए ही कोई अस्थिर होता नहीं;—सुस्थिर होने के लिए ही,—स्थिरता न मिलने तक ही अस्थिर होना होता है; उसी तरह गति के लिए ही गति नहीं है; स्थिति ही गति मात्र का लक्ष्य है। अभीष्ट विषय प्राप्त होकर अचञ्चल होना अथवा गन्तव्य स्थल में उपनीत होकर स्थिरता पाना ही सभी चाञ्चल्य और अस्थिरता का चरम उद्देश्य है। जो पूर्ण है—जो अपरिवर्तनीय भाव है, उसे ही पाने के लिए अपूर्ण जीव-जगत निरन्तर व्याकुल रहता है। संसार-दुःख-प्रशमन—चिरशान्तिमय—निरतिशय सुख स्वरूप श्री भगवान ही पूर्ण और नित्य वस्तु की परमावस्था हैं। जानकर या न जानकर—जिस भाव से भी हो उसी पूर्ण और अपरिवर्तनीय भाव के समीपवर्तिनी होना ही जीव के सभी गति का लक्ष्य है,—सकल अस्थिरता का उद्देश्य है। अतएव जो गति जिस परिमाण में उस अपरिवर्तनीय भाव या स्थिति के समीपवर्तिनी है—वही गति उसी परिमाण में प्रकृष्ट है; वही भाव या धर्म उसी परिमाण में उत्कृष्ट है। और केवल शुद्धा भक्ति के उदय होने से जब उनकी श्री चरण-सेवा की प्राप्ति होगी तभी-सभी गति की स्थिति-सभी अस्थिरता का विराम—सभी चाञ्चल्य का अवसान समझना चाहिए।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शुद्धा भक्ति, प्रेम और परमानन्द-साक्षात्कार पृथक वस्तु नहीं; एक ही का क्रमिक उदय ।

शुद्धा भक्ति की परमावस्था ही है 'प्रेम भक्ति' । प्रमोदय और परमानन्द-स्वरूप—श्री भगवत्साक्षात्कार एक ही बात है । सूर्य के उदय मात्र से ही जिस तरह उसके आनुषङ्गिक फल में तमोनाश और मुख्य फल में धर्म-कर्मादियुक्त मङ्गलमय जगत का प्रकाश होता है, उसी तरह प्रेम के उदय मात्र से उसके आनुषङ्गिक फल से ही सब दुःखों की आत्यन्तिक समाप्ति हो जाती है और साथ ही परमानन्द-स्वरूप श्री भगवत्साक्षात्कार रूप मुख्य फल का विकाश हो जाता है । अतएव शुद्धाभक्ति, प्रेम और परमानन्द-साक्षात्कार पृथक् वस्तु नहीं हैं । एक ही शुद्धा भक्ति के केवल क्रमिक विकाश हैं ।

इसलिए शुद्धा भक्ति ही है—परमस्थिति या परम शान्ति । अनादि विषयवासना-चञ्चल अपूर्ण जीव की गति या अस्थिरता को परम स्थिति या परिपूर्णता प्रदान करने में भक्ति ही सर्वोत्तमा है ।

"कृष्णभक्त निष्काम—अतएव शान्त ।
भुक्ति, मुक्ति, सिद्धिकामी—सकलि अशान्त ।।"

(श्री चैः २।१६)

जीव की गति ऊर्ध्व स्रोतस्विनी या 'धर्म' और अधः प्रवाहिनी या 'अधर्म' भेद से दो प्रकार की है। धर्म द्वारा जीव अधः पतन से 'धृत' होकर क्रम से ऊर्ध्व गति लाभ करता है; अधर्म द्वारा जीव-अधोगति को प्राप्त होता है। भक्ति के बिना जीव की गति या चांचल्य का विराम नहीं।

इस तरह से यह समझ में आ गया कि सभी कर्म-चञ्चल जीव गतिशील हैं । जीव की यह गति दो प्रकार की है । एक है ऊर्ध्व—स्रोतस्विनी और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दूसरी है अधः प्रवाहिनी। पहली साधारणतः धर्म' नाम से और दूसरी 'अधर्म' नाम से कही जाती है। ऊर्ध्व स्रोतस्विनीगति या धर्म को अवलम्बन (आश्रय) करके, स्थिति या अपरिवर्तनीय भाव के अन्वेषण में अग्रसर होने की अवस्था ही धर्म का लोक—प्रसिद्ध अर्थ है। इसी का ही दूसरा नाम है 'पुण्य'। यह पुण्यात्मक-धर्म अधोगति अवरोध पूर्वक जीव को ऊर्ध्वगति के रास्ते में 'धृत' या धारण करते हुए[1] क्रमोन्नति प्रदान तो करता है किन्तु इसके द्वारा परम—स्थिति लाभ करना सम्भव नहीं होता। यहाँ तक कि, सत्य-लोक नामक ब्रह्मलोक पर्यन्त प्राप्त होने पर भी भोग के अन्त होने पर जीव को फिर लौटना पड़ता है, ("क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।"—गीता ९, २१) इसलिए इससे जीव की यातायात रूप अस्थिरता का विराम नहीं होता। केवल भक्ति ही परमस्थिति-स्वरूप परमानन्दमय श्री भगवत्-पदाम्बुज प्राप्त कराकर, जीव का सब चाञ्चल्य—उसकी सभी अस्थिरता—सब अपूर्णता सदा के लिए समाप्त कर देती है। स्वयं श्री भगवान ने स्वयं ही गीता में कहा है,—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौनतेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ (गीता।८।१६)

इसका अर्थ,—हे अर्जुन, प्राणियों को ब्रह्मलोक पर्यन्त सब लोक प्राप्त होकर भी, वहाँ से संसार में फिर लौटना पड़ता है; किन्तु मुझे प्राप्त कर लेने से फिर जन्म ग्रहण करना नहीं पड़ता।

उन्हीं स्वयं भगवान ने अपने श्री मुख से ही गीता में दूसरी जगह भी कहा है,—

---

[1]— धारणात्धर्ममित्याहु धर्मो धारयते प्रजाः। (महाभारत)

अर्थ—अधोगति से सुरक्षित रखने को 'धर्म' कहते हैं। धर्म द्वारा सभी जीव 'धृत' रहते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यान्ति देवव्रता देवान् पितृन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ।।
(गीता ६।२५)

इसका अर्थ,—जो इन्द्रादि देवपूजक हैं,—वह देवव्रतगण देवलोक को प्राप्त होते हैं; पितृ परायण अर्थात् श्राद्धादि क्रियारत जो लोग हैं, वह पितृलोक में जाते हैं; जो सब विनायक–मातृगणादि भूत के पूजनेवाले हैं, वह उसी-उसी लोक में जाते हैं; किन्तु उक्त सभी लोकों से फिर लौटना होता है। किन्तु मेरे (श्री भगवान के) यजनशील अर्थात् मत्परायण या मेरे भक्त जो हैं, वह अक्षय—परमानन्द-स्वरूप मुझे ही प्राप्त कर लेते हैं।

(स्वामिपादकृत टीकानुसार)

एक मात्र भक्ति को छोड़कर दूसरे किसी धर्म से परम स्थिति को प्राप्त नहीं किया जा सकता ।

अतएव केवल भक्ति पथ की गति ही प्रकृष्टागति है क्योंकि भक्ति ही जीव को प्रकृष्टरुप में परमस्थिति प्राप्त कराकर उसकी (जीव की) सभी चञ्चलता और यातायात निरोध पूर्वक परम स्थिरता प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त दूसरी सभी गति और उसके फलस्वरूप सभी प्राप्ति जीव को यातायात के आवर्तन में आवर्तित करती है । स्वयं श्री भगवान के श्री मुखाम्बुज की उक्ति से भी यही बात जानी जाती है, यथा,—

योगस्य तपसश्चैव न्यासस्य गतयोऽमला ।
महर्जनस्तप सत्यं भक्ति योगस्य मद्गतिः ।।
(श्री भाः ११।२४।१४)

इसका अर्थ,—योग, तपः और सन्न्यास के फलरूप में (अर्थात् कर्म, अष्टाङ्ग योग और ज्ञान प्रभृति सभी साधन के फल-तारतम्य के कारण) महर्लोक, जन-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लोक, तपलोक, और सत्यलोक में उत्तमागति लाभ होती है। और भक्तियोग के फल से मद्विषयागति अर्थात् अक्षय-अच्युत परमधाम लाभ होता है (सत्यलोक तक जाने से जीव को फिर लौटना पड़ता है; किन्तु भक्ति द्वारा श्री भगवान को प्राप्त कर लेने पर फिर पुनर्जन्म नहीं होता यह बात पूर्व श्लोक में श्री भगवान ने, स्वयं ही उल्लेख कर दी है। यहाँ भी वही अभिप्राय समझना चाहिए।)

इसलिए यह समझ में आजाता है कि क्षणभंगुर—चिरचञ्चल जड़ में अभिनिवेश के फल से ही अर्थात् जड़—तादात्म वशतः अचञ्चल—स्थिर वस्तु होकर भी जीव अस्थिर होकर निरन्तर स्थिरता के ही अन्वेषण में लगा रहता है। एक मात्र भक्ति के अतिरिक्त प्रकृष्ट स्थिति के प्राप्त करने का—परमानन्द और परमाशान्ति लाभ करने का दूसरा रास्त न होने के कारण, भक्ति ही सब शास्त्रों का मुख्य तात्पर्य है। अर्थात वेदादि शास्त्रों की एक मात्र विधि ही है—भक्ति का अनुशलीन। इसे छोड़कर दूसरे धर्म-कर्मादि का जो कुछ निर्देश है, वह सभी 'परिसंख्या' अर्थात् अगत्याकरणीय (लाचारी में करने योग्य) विषय हैं।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि जब भक्ति ही जीव का परमधर्म है और इसी कारण से सब शास्त्रों का मुख्य तात्पर्य या एक मात्र विधि है, तब शास्त्र द्वारा केवल भक्ति के अतिरिक्त उसके साथ दूसरे कर्मादि के निर्देश का उद्देश्य क्या है ?

भक्ति की स्वप्रकाशता और सुदुर्बोधता ही जन साधारण की स्वाभाविकी श्रद्धानुरूप दूसरे धर्म में प्रवृत्ति का कारण।

इसका उत्तर यह है कि श्रद्धा ही सब प्रवृत्ति का मूल है, यह बात पहले बतायी जा चुकी है। जिस श्रद्धा के उदय होने से श्री भगवदनुशीलन-प्रवृत्ति का विकाश होता हैं वह भी निर्गुणा है। निर्गुणा भागवती श्रद्धा के उदय हुए बिना, गुणाओर स्वभाविकी श्रद्धा द्वारा शुद्धाभक्ति के अनुशीलन के विषय में किसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की प्रवृत्ति नहीं हो सकती[१]। इसलिए अहैतुकी या यदृच्छालभ्य महत्कृपा सापेक्ष होने के कारण, जैसे उस भाव से भागवती श्रद्धा उदय नहीं होती, वैसे ही फिर भक्ति या भागवत-धर्म की दुर्बोधता भी उस विषय में जन साधारण की अप्रवृत्ति का दूसरा कारण है। रजस्तमगुण द्वारा परिपूर्ण सगुण भावापन्न—देहात्मबोध-विमुग्ध जीव-साधारण की स्वाभाविकी[२] श्रद्धा के अनुसार ऐहिक या पारलौकिक भोग-सुख देने वाले सगुण धर्म-कर्मादि के विषय में स्वाभाविक प्रवृत्ति देखी जाती है। शुद्धा-भक्ति निर्गुणा और यथार्थ निष्कामा है; इसलिए विशुद्धा अर्थात् स्वसुख-तात्पर्य-शून्या और केवल भगवत्सुख तात्पर्यमयी है। यह विशुद्धा भक्ति ही जीव का मुख्य प्रयोजन या एक मात्र प्रयोजन होने पर भी, और आत्मसुख की जगह परमात्मवस्तु के सुखविधान के आनुषङ्गिक या गौण फल से ही प्रकृष्टरूप में आत्मसुख लाभ होने पर भी, अज्ञानादि द्वारा आवृत सभी जीवों को स्व-सुख तात्पर्य-शून्य पुरुषार्थ' अर्थहीन (व्यर्थ) बोध होता है, और यदि यह कहा जाय कि उन्हें ऐसे किसी प्रयोजन की धारणा करना भी एक प्रकार से असम्भव है, तो यह भी अत्युक्ति (बहुत बढ़ाकर कहा हुआ कथन) न होगी।

१—सात्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी।
तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायां तु निर्गुणाः ॥
(भाः ११।२५।२७)

अर्थः—(श्री उद्धव के प्रति श्री भगवान की उक्ति) आध्यात्मिक वेदान्तादि विषय में जो श्रद्धा है, वह सात्विक है, कर्मकाण्ड में जो श्रद्धा है, वह राजसिक है; परधर्मादि अधर्म में जो श्रद्धा है, वह तामसिक है, और मेरी सेवा में जो श्रद्धा है, वह है निर्गुणा।

२—'स्वभाव का अर्थ है—पूर्वकृत संस्कार। पूर्वजन्मकृत कर्म-संस्कार से जीव की जो सात्त्विकादि त्रिविधा सगुणा श्रद्धा उत्पन्न होती है, उसे ही स्वाभाविकी श्रद्धा कहते हैं। भागवती-श्रद्धा निर्गुणा है। इसलिए पूर्व-कर्म-संस्कार जनित नहीं है अपितु स्वप्रकाश या यादृच्छिकी है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जीव की थोड़ी बहुत अधोगति रोकने के लिये ही शास्त्र द्वारा अगत्या (लाचारी में) अन्य धर्म की व्यवस्था।

इसलिये एक मात्र भक्ति ही यथार्थ निष्कामा होने के कारण, भक्ति की प्रयोजनीयता सकाम जीव साधारण के लिये दुर्बोध्य है जिससे उसकी अनुशीलन-प्रवृत्ति की सुदुर्लभता भी स्वाभाविक है। ऐसी अवस्था में यदि इस निष्काम भक्ति के अनुशीलन को ही एक मात्र 'विधि' या कर्त्तव्य बताकर निर्देश किया जाता, तो स्वसुख-प्रयोजन वालों की अर्थात् सकाम जनों की उसमें प्रवृत्ति न होती और यदि उनको उनकी स्वाभाविकी श्रद्धानुरूप अन्य किसी कल्याणकर पन्था का भी निर्देश न किया जाता तो सब मनुष्य स्वेच्छाचारिता द्वारा चालित होकर 'अधर्म' या अधोगति को ही प्राप्त होते रहते। इसलिये 'स्वभाव' या स्वधर्म विच्युत जीव के लिये 'अधर्म' या अधः पतनरूप इस अनर्थ से थोड़ी बहुत रक्षा के उद्देश्य से भक्ति के अतिरिक्त दूसरे धर्म-कर्मादि की जो कुछ व्यवस्था देखी जाती है,—वह सभी 'परिसंख्या' अर्थात् आपाततः 'मन्देर भाल' (मन्द तो है किन्तु इस अवस्था में यही अच्छा) के विचार से अगत्याकरणीय (लाचारी में करने की) व्यवस्था हैं। अतएव यादृच्छिक महत्कृपादि के संयोग से निर्गुणा भागवती-श्रद्धा के उदय न होने तक, रजस्तम गुण द्वारा परिपूर्ण-अहंकारादि-विमूढ साधारण मनुष्य की सहसा बुद्धि विचलित (चलायमान) करने का प्रयास न करके उस समय में सगुणा श्रद्धा के अधिकारानुरूप वेद विहित सकाम कर्मादि में उनकी प्रवृत्ति कराना आवश्यक होता है। सब वेदों का यह उद्देश्य ही गीता में स्वयं 'भगवद्वाक्य' द्वारा प्रतिपादित होते देखा जाता है, यथा,—

> प्रकृतेर्गुण संमूढाः सज्जन्ते गुण कर्मसु।
> तान कृत्स्नविदो मन्दानकृत्स्नविन्न विचालयेत्॥
>
> (गीता ३, २९)

इसका अर्थ,—प्रकृति के गुण-प्रभाव से विमूढ़ होकर जो लोग इन्द्रियों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और उनके कार्य में आसक्त हैं, 'तत्त्वज्ञव्यक्ति को ऐसे अल्पदर्शी मन्द-मतियों की बुद्धि (सहसा) विचालित नहीं करना चाहिये।

इसलिये सर्वकारण श्री भगवान ने स्वयं ही गीता में इस घोषणा द्वारा कि अन्य देवताओं की उपासना अज्ञान पूर्वक उनकी ही उपासना है ("तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्य विधि पूर्वकम्।"—६/२३)—यह निर्देश किया है कि ऐकान्तिक भाव से एक मात्र उनकी अराधनारूपा भक्ति ही समस्त वेद की 'विधि' अर्थात् व्यवस्था या अवश्य कर्त्तव्यता है,—यह अभिप्राय स्पष्टरूप से व्यक्त करने पर भी, (१८/६५-६६) फिर उन्हीं श्री भगवान ने ही महत्कृपैकलभ्य भागवती-श्रद्धा के उदय की अनिश्चयता की और भागवत धर्म की दुर्बोधता की बात को भी ध्यान में रक्खा है। इसलिये यह देखा जाता है कि उन्होंने उसके अनुदय काल में, कम से कम, कुछ मंगल लाभ के लिये, सकाम लोगों की विषय-निष्ठ बुद्धि को सहसा चालित न करके, अगत्याकरणीय या 'परिसंख्या' स्वरूप उनकी स्वाभाविकी श्रद्धा अनुरूप केवल कर्म का ही नहीं अपितु इन्द्रादि देवता की आराधना का भी निर्देश कर दिया है, यथा,—

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

(गीता ३।११)

इसका अर्थ,—तुम यज्ञ द्वारा सब देवताओं की उन्नति करो, देवगण भी वर्षा आदि द्वारा तुम लोगों का अभीष्ट पूर्ण करें। इस तरह आपस में उन्नति करते हुए, तुम लोग मोक्ष तक परम कल्याण लाभ कर सकोगे!

अतः वेद के सारार्थ श्री गीता से यह जाना जाता है कि ऐकान्तिक श्री कृष्ण-अराधनारूपा भक्ति या भागवत् धर्म ही समस्त वेदों की विधि अर्थात् एक मात्र व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त दूसरे सभी भक्ति-विषया श्रद्धा के अनुदय के समय में ही अगत्या करणीय विषय हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अन्य धर्मादि का अनुष्ठान भी थोड़ा बहुत सहज लभ्या सगुणा भक्ति के सहयोग से अनुष्ठित होने का निर्देश ।

केवल यही नहीं, अपितु निर्गुणा शुद्धा भक्ति के अनुदय तक दूसरे धर्म कर्मादि का जो कुछ अनुष्ठान है, वह सभी यदि अन्ततः (कुछ-कुछ) सहज लभ्या सगुणा भक्ति के सहयोग से—किसी प्रकार से श्री कृष्ण में समर्पणादि रूप उनका सम्बन्ध जोड़कर या उनका सम्बन्ध आरोपित करके अनुष्ठित हों, तभी उन-उन साधनों द्वारा यथोपयुक्त सिद्धि लाभ हो सकती है,—वेद का यह निगूढ़ मर्म भी गीता में स्वयं श्री भगवान द्वारा प्रचारित हुआ है। यथा,—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जु होषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
शुभाशुभ फलैरेवं मोक्ष्यसे कर्म बन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्ततात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥

(गीता ।९।२७, २८)

इसका अर्थ,—हे अर्जुन ! तुम जिस किसी कर्म का अनुष्ठान करो, जो कुछ खाओ, जो होम करो, जो कुछ दान और तपस्या करो, वह सब मुझे समर्पण-पूर्वक करना ।

इस प्रकार करने से तुम शुभाशुभ फल से विमुक्त हो जाओगे और कर्मार्पणरूप[1] योग युक्त होकर मुझे प्राप्त कर लोगे !

---

[1],—"मेरे इस कर्म द्वारा सर्वव्यापक और सर्वात्मा परमेश्वर परितुष्ट हों" इस प्रकार मननपूर्वक श्री भगवान में अर्पित कर्म को कर्मार्पण या कर्म द्वारा अभ्यर्चन (पूजन) कहते हैं। (गीता ।१८।४६)—श्री चक्रवर्तिपाद और श्री बलदेव पादकृत टीका देखना चाहिये !

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्री भगवत् संबंध का संयोग ही सर्व सिद्धि का कारण।

कर्म, ज्ञान, योग प्रभृति दूसरे सब साधनों के वही एक मात्र सर्वमूल कारण है,—अस्पष्ट वेद का यह निगूढ़ तात्पर्य, उनके विशदार्थ श्री भागवत से भी साक्षात् श्री भगवद्वाणी द्वारा सुविदित हो जाता है, यथा,—

सर्वासामपि सिद्धीनां हेतुः पतिरहं प्रभुः।
अहंयोगस्य सांख्यस्य धर्मस्य ब्रह्मवादिनाम्॥
(श्री भाः ११।१५।३५)

इसका तात्पर्यार्थ,— मेरे स्मरणादि द्वारा सभी सिद्धि भी सिद्ध होने के कारण मैं सब सिद्धियों का कारण हूँ, केवल यही नहीं अपितु उन सब का पालयिता भी मैं हूँ और प्रभु अर्थात् फलदाता भी मैं हूँ। केवल सब सिद्धियों का ही नहीं अपितु मेरे ध्यानादि योग का, ज्ञान योग का और निष्काम कर्मादि योग का और उन सब धर्मों के उपदेष्टाओं का भी प्रभु मैं ही हूँ। (श्री स्वामिपाद और श्री चक्रवर्त्तिपाद-कृत टीका का भावार्थ।)

इसलिये केवल धर्मादि-साधन के विषय ही नहीं,—मनुष्य के दैनिक सभी कर्म उन्हीं श्री भगवान के थोड़ा-बहुत श्रीनाम-स्मरणादि के साथ सम्बन्धयुक्त होकर ही अनुष्ठित होने का विधान शास्त्र में यथेष्ट रूप से परिदृष्ट होता है। इसकी विस्तारित आलोचना मूल ग्रन्थ में देखना चाहिये! बहुत हो जाने के भय से उसका केवल एक दृष्टान्त प्रदर्शित किया जाता है, यथा,—

औषधे चिन्तयेद्विष्णुं भोजने च जनार्दनम्।
शयने पद्मनाभञ्च विवाहे च प्रजापतिम्॥
संग्रामे चक्रिणं क्रुद्धं स्थानभ्रंशे त्रिविक्रमम्।
नारायणं वृषोत्सर्गे श्रीधरं प्रिय संगमे॥
जलमध्ये तु वाराहं पावके जलशायिनम्।
कानने नरसिंहंच पर्वते रघुनन्दनम्॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दुः स्वप्ने स्मर गोविन्दं विशुद्धौ मधुसूदनम् ।
मायासु वामनं देवं सर्व कार्येषु माधवम् ।।

(श्री हरिभक्ति विलासधृत विष्णुधर्मोत्तर । ११।१३७)

इसका अर्थ,—औषधि सेवन के समय विष्णु का नाम, भोजन के समय जनार्दन, शयन समय पद्मनाभ, विवाह समय प्रजापति, युद्ध में चक्रधारी; स्थान भ्रंश के समय त्रिविक्रम, वृषोत्सर्ग (बछड़े को दागकर साड़ बनाकर छोड़ने की क्रिया) में नारायण, प्रिय संगम के समय श्रीधर, जल में वाराह और अग्नि के भय के समय जलशायी नाम चिन्ता करना चाहिये। वन में नरसिंह, पर्वत में रघुनन्दन, दुःस्वप्न में गोविन्द, शुद्धिकार्य में मधुसूदन, माया मोह में वामन और सभी कामों में माधव का नाम स्मरण करना चाहिये।[१]

---

[१],—स्वयं रूप श्रीकृष्ण ही सब अवतारों के अवतारी हैं; इसलिए निखिल अवतार उनके ही आंशिक प्रकाश-विशेष हैं। अतएव उक्त सभी नामों का भी मुख्य तात्पर्य श्रीकृष्ण ही हैं। यथा,—

रामादि मूर्तिषु कला नियमेन तिष्ठन्
नानावतारमकरोद्भुवनेषु किन्तु ।
कृष्णः स्वयं समभवत् परमः पुमान् यो
गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि ।।

(ब्रह्म संहिता । ५।३९)

अर्थ,—रामादि निखिल भगवन्मूर्ति में अंश भाव से अवस्थान करके प्रपञ्च में जिन्होंने अपने अंश से बहुत प्रकार के अवतार प्रकट किये हैं, किन्तु जो स्वयं श्रीकृष्ण रूप में आविर्भूत परम पुरुष है,—उन्हीं सर्वादि पुरुष गोविन्द का मैं भजन करता हूँ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बिना भक्ति की सहयोगिता के—कर्म-ज्ञानादि सभी साधनों की विफलता निर्देश।

अतएव वेद का केवल वाह्यार्थ ग्रहण-पूर्वक, भक्ति या भगवत् सम्बन्ध छोड़कर वेदोक्त धर्म-कर्मादि अनुष्ठित होने से, वह सभी व्यर्थ होते हैं, इस विषय में शास्त्रों में बहुत प्रमाण दृष्ट होते हैं! बहुत बढ़ जाने के भय से केवल वेद के विस्तारार्थ श्रीमद्भागवत से, भक्ति या भगवत्-सम्बन्ध-वर्जित ज्ञान और कर्मादि सभी साधनों की व्यर्थता के विषय का केवल एक निर्देश नीचे लिपिबद्ध किया जाता है। यथा,—

नैष्कर्म्यमप्यच्युत भाव वर्जितं,
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे,
न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥
(श्री भाः। १।५।१२)

इसका अर्थ,—उपाधि रहित विमल ब्रह्म ज्ञान भी जब अच्युत भाव-वर्जित अर्थात् भक्तिहीन होने से शोभनीय नहीं होता, तब दुःख स्वरूप और दुःख-प्राय काम्य कर्म और निष्काम कर्म के फल यदि श्री भगवान में अर्पित नहीं होवे, तो वह कैसे सिद्धिप्रद होंगे? अर्थात् सिद्धि प्रदान के अयोग्य ही हुआ करते हैं।

भक्ति ही जीव का परम धर्म या मुख्य-प्रयोजन।

इससे हमारे समझ में यह आ गया कि भक्ति ही तदाश्रित जीव को प्रकृष्ट रूप से धारणपूर्वक परम स्थिति में उन्नमित (ऊपर उठाना) करती है। अतएव भक्ति ही 'परम धर्म' है। भक्तिरूप परम धर्म ही साधुओं द्वारा हर समय आचरित होने के कारण, उसे सद्धर्म कहते हैं। यही गतिशील जीव की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रकृष्ट गति है। इस गति-पथ का आश्रय करने से ही परमानन्द या परम-स्थिति प्राप्त की जा सकती है। एकमात्र भक्ति-ग्राह्य—सर्वकारण-कारण—आनन्दरस घन – श्रीकृष्ण के शान्ति-शीतल श्री चरणाम्बुज सेवा की प्राप्ति से ही सभी गति की स्थिति या विश्राम है। उसी अपरिवर्तनीय या अच्युत भाव के प्राप्त होने से जीव फिर धर्माधर्म, पाप-पुण्य किसी भाव में सम्बद्ध नहीं होता। तब वही यथार्थ मुक्त है—यथार्थ स्वाधीन है। कृष्णाधीनता, कोटि स्वाधीनता के सुख से भी श्रेष्ठ और निरापद है। तब वही सब दुःख, भय, भावना—सभी विपद अतिक्रम करके, परम-पद प्राप्त करते हैं, "तद्विष्णोः परमम्पदम्"। (काठके ३।६)

ज्ञान के पथ से भी जीव का प्रकृष्ट प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

ज्ञान के साधन द्वारा मुक्ति की प्राप्ति से जीव की गति और उसके फल से आवागमन रूप संसारावर्तन निरोध हो जाने से भी, इसके द्वारा मुख्य प्रयोजन साधित नहीं होता, यहाँ तक कि उसके साधन अवस्था में जो कुछ सुखानुभूति होती भीं है, सिद्धावस्था में वह भी विलीन हो जाती है। यद्यपि परमानन्द के नित्य सेवक जीव को मुक्ति से दुःख की आत्यान्तक निवृति तो साधित हो जाती है, किन्तु निर्विशेष—निधर्मक ब्रह्म में, सुखास्वादन के हेतु-स्वरूप सुख-वृत्ति के अभाव से—सुख धर्म निष्क्रिय रहता है, और सायुज्य मुक्ति प्राप्त जीव को तो अपने पृथक् सत्ता की भी अनुभूति नहीं रहती, उस अवस्था में सुख-सेवन की सम्भावना कहाँ? सुषुप्ति के आनन्द की तरह, ('सुखमहमस्वाप्सम्') दुःख-सुख हीन एक निर्विशेष—अवाच्य सुख-विशेष ही मुक्त जीव को प्राप्त हुआ करता है। इसलिये इसे दुःख के भय से प्रकृष्ट सुख और उसके साथ आत्मसत्ता विसर्जन रूप आत्म नाश भी कहा जा सकता है क्योंकि सर्व दुःख-लेशाभास-विवर्जित सविशेष या वैचित्रमय अप्राकृत परमानन्द-सेवन ही जीव का मुख्य-प्रयोजन है और एक मात्र भक्ति ही उसके लाभ करने का परम-कारण है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस परमानन्द के साथ बराबरी की बात तो दूर रही, सुषुप्ति की निर्विशेष और अवाच्य सुखस्मृति मात्र यदि अन्ततः प्राकृत सविशेष विषय-सुख से श्रेष्ठ होती, तो ऐसा होने से मनुष्यलोक में—जनसाधारण विषय-सुखान्वेषण-चेष्टा की अपेक्षा सुषुप्ति का अवाच्य सुख पाने के लिये ही अधिकतर चेष्टाशील देखे जाते; क्योंकि सुषुप्ति का सुख तो जीवन के किसी न किसी समय में सभी का ही अनुभूत विषय है। किन्तु ऐसा तो नहीं देखा जाता अपितु उसके विपरीत ही देखने में आता है।

योगिगण भी भक्ति सुख में आकृष्ट होते हैं।

योग के विषय में भी "आत्मारामाश्चमनुयो" इत्यादि श्लोक के संबंध में ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है। जो लोग यह समझते हैं कि ज्ञान और योग के साधना में सिद्धि लाभ करने पर और पूर्णानन्द के अधिकारी होने पर चित्त की परम स्थिरता प्राप्त हो जाती है, उनके संबन्ध में यह देखा जाता है कि अधिक नहीं, केवल श्री भगवान के श्री चरण-संलग्न तुलसी-सौरभ के आकर्षण से ही उनके चित्त-मधुप प्रलुब्ध होकर उन्हीं श्री चरणाम्बुज के प्रति आकृष्ट हो जाते हैं। इसलिये ब्रह्मानन्द और आत्मानन्द से भी श्री भगवत्-सेवानन्द की या भक्ति सुख की अत्याधिक्य ही प्रतिपन्न होती है, इसके दृष्टान्त शास्त्र में कम नहीं है, यथा,—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द—
किञ्जल्कमिश्र तुलसी मकरन्द वायुः।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
संक्षोभमक्षर जुषामपि चित्ततन्वोः॥
(श्री भाः ।३।१५।४३)

इसका अर्थ,—(सनकादि मुनिगण अवनत होकर श्री भगवान को प्रणाम करते समय) कमल नयन श्री भगवान के पादपद्म संलग्न किञ्जल्क (कमल के फूल) मिश्र तुलसी की सुगन्धि से सुवासित वायु मुनियों के नाक में प्रवेश

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होने पर, यद्यपि वह लोग आत्मानन्द में निमग्न थे, तब भी उनके चित्त-तनु संक्षोभित हो गये और वह उन लोगों ने अतिशय हर्षित होकर रोमाञ्चादि का विस्तार किया था।

ज्ञान और योग की सिद्धि की उपेक्षा भक्त ही कर सकता है।

दूसरी तरफ यह देखा जाता है कि जो लोग भक्ति लाभ करके परमानन्द-मय की सेवारूप परम पूर्णता या परम स्थिरता प्राप्त कर चुके हैं—उनके चित्तभृङ्ग उस परमस्थिति या अच्युत स्वरूप को प्राप्त करने पर अर्ध निमेष काल के लिये भी श्री भगवत्पदारविन्द से किसी के द्वारा भी विचलित नहीं होते। ("न चलति भगवत्पदारविन्दा-ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः। भाः ११।२।५३)

दूसरे विषय की बात तो दूर रही—मुक्ति व सिद्धि-सुखस्वरूप ब्रह्मानन्द और आत्मानन्द उनके सामने बिल्कुल ही प्रभाहीन मालूम होते हैं।[1] बहुत अधिक न हो जाय इसलिये इस विषय का केवल एक दृष्टान्त नीचे लिखा जाता है। उनके पदाम्बुज के नित्य भृङ्ग महा भागवतों की परिपूर्णता की बात और क्या उल्लेख की जाय,—असुर जन्म प्राप्त होकर भी पूर्वजन्मार्जित भक्ति के प्रभाव से वृत्रासुर की उक्तिमात्र ही उल्लेख की जाती है; यथा,—

न नाकपृष्टं न च पारमेष्ठ्यं,
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योग सिद्धीरपुनर्भवं वा,
समञ्जस त्वा विरहय्य कांक्षे॥

(श्री भाः ६।११।२५)

इसका अर्थ,—हे सर्व सौभाग्य निधे! मैं आपको परित्याग करके ध्रुवपद,

---

[1],—श्री हरि भक्ति विलास। १।२।२५-५४ तक देखना चाहिये। विद्यारत्न-संस्करण।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ब्रह्मपद, समस्त पृथिवी का आधिपत्य, पाताल की अधिश्वरता अथवा अणिमादि सब योगसिद्धि अथवा मोक्ष पद भी नहीं चाहता।

अतएव यही समझ में आता है कि एकमात्र भक्ति को छोड़कर प्रकृष्ट स्थिरता प्राप्त करना दूसरे किसी से सम्भव नहीं हो सकता।

तभी तो श्री भगवान ने, कर्मी, तपस्वी, ज्ञानी और योगी से भी भक्त की सर्वश्रेष्ठता स्वयं ही स्वीकार की है। ("तपस्विभ्यो—" इत्यादि। गीता। ६।४६।श्लोक देखना चाहिये)

अधः प्रवाहिनी गति का अनुगमन ही जीव का अधर्म।

जीव की अधः प्रवाहिनी गति का नाम 'अधर्म' है। यही साधारणतः 'पाप' नाम से प्रसिद्ध है। जो गति—जो परिवर्तन जीव को उसके स्वभाव या स्वधर्म से नीचे की ओर परिचालित करे, वही विच्युत की अवस्था ही उसके लिये 'अधर्म' है, वही उसके लिये धर्म की विपरीत गति है। अधोगति द्वारा परिचालित जीव, अपरिवर्तनीय भाव या परमानन्द के—परमपद के विपरीत की ओर जितना ही अग्रसर होता है, उतना ही विपद पर विपद—अनन्त विपद—अविराम यातायात की अधिकता होती जाती है।

अधिकारी भेद से 'धर्म', 'स्वधर्म' और 'अधर्म'—इनकी विभिन्नता।

इसलिये यह समझ लेना चाहिये कि 'धर्म', 'स्वधर्म' और 'अधर्म' की ऐसी कोई एक निर्दिष्ट सीमा की रेखा नहीं है, जो एक ही समय में सभी के लिये ही प्रयुक्त हो सके। सत्त्वादि गुण भेद से जिसका जो भाव है वही उसका 'स्वधर्म' है—जिस धर्म में जो श्रद्धान्वित है, उसके लिये उस समय उसी धर्म के अनुष्ठान के अनन्तर, योग्यतर होने से क्रमशः ऊपर जाने वाली गति के अनुसरण का नाम 'धर्म' है; और 'स्वधर्म' से नीचे जाने वाली गति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के अनुसरण का नाम 'अधर्म' है और अधिकारानुसार किसी भाव या किसी धर्म के अवलम्बन से—अधः पतन से 'धृत' होकर अवस्थिति करने का नाम 'स्वधर्म' है। धर्म और अधर्म के लक्षण का निर्णय शास्त्र में उक्त हुआ है,—

विहितक्रियया साध्यो धर्मः पुंसां गुणो मतः।
प्रतिषिद्धक्रिया साध्यः स गुणोऽधर्म उच्यते ।। (धर्म दीपिका)

इसका अर्थ,—अधिकारानुसार शास्त्र विहित कर्म के अनुसरण करने को धर्म कहते हैं; और जो शास्त्र निषिद्ध कर्म है, उनके ही अनुसरण करने का नाम 'अधर्म' है।

अपरिवर्तनीय भाव या स्वपद-प्राप्ति की कारण-स्वरूपा शुद्धा भक्ति ही सब जीवों का चरम उद्देश्य या मुख्य प्रयोजन है। भक्ति ही अस्थिर जीव को परमस्थिरता या पूर्णता प्रदान करती है क्योंकि वह भी अपरिवर्तनीया, निर्विकारा और नित्या है; इसलिये अपने पूर्ण भाव से सब समय ही विराजमाना है। इसके अतिरिक्त,—उस भक्ति या भागवती-श्रद्धा के अनुदय काल तक, गुण की भिन्नता से अधिकारी की विभिन्नता है, इसलिये अस्थिरता स्वाभाविक है और इसी कारण से दूसरे धर्म और उसके सभी साधन भी अस्थिर हैं और विभिन्न प्रकार के हैं। ऐसा होने से यह निश्चय है कि धर्माधर्म, पाप-पुण्य, दोष-गुण सबके लिये एक प्रकार के नहीं हो सकते। यही कारण है कि तामसिक अधिकारी के लिये स्वधर्मानुष्ठान के अनन्तर यथा क्रम से राजस अधिकार का प्राप्त होना ही 'धर्म' है; किन्तु सात्त्रिक अधिकारी के लिये राजसिक भाव का प्राप्त होना ही 'अधर्म' है। इसलिये एक ही राजस अधिकार जिस तरह किसी के लिये गुण और किसी के लिये दोष है, उसी तरह अन्यत्र भी जानना चाहिये। तभी तो शास्त्र में उक्त हुआ है,—

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः।
विपर्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निर्णयः ।।
(श्री भाः ११।२१।२)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसका अर्थ,—श्री भगवान ने कहा, हे उद्धव,! जिस व्यक्ति ने जिस विषय में अधिकार लाभ किया है, उसका उस विषय में निष्ठा ही 'गुण' कहा जाता है; और इसके विपरीत होने से ही उसे 'दोष' कहते हैं। वस्तुतः दोष-गुण का निर्णय केवल यही है।

गुण-दोष के दर्शन को त्रिविध दृष्टि—वैशिष्ट्य।

उक्त दोष-गुण का विचार, अस्थिर कर्म-मार्गीय धर्म के विषय में ही अथवा जीव के प्राकृत भाव के संयोग के समय ही होगा। ज्ञान-धर्म में—निर्विशेष ब्रह्मानु-भूति की अवस्था में गुण-दोष का विशेषत्व भी फिर लक्षित नहीं होता; उस अवस्था में गुण-दोष का भेद दर्शन ही दोष माना जाने योग्य होता है। शास्त्रोक्ति यथा,—

किं वर्णितेन बहुना लक्षणं गुण दोषयोः।
गुणदोषदृशिर्दोषोगुणस्तूभय वर्जितः॥

(श्री भाः ११।१९।४५)

इसका अर्थ,—श्री भगवान ने कहा, हे उद्धव, गुण-दोष के लक्षण के विषय में और अधिक क्या वर्णन करें,—गुण और दोष इन दोनों का दर्शन ही दोष है; अपितु इन दोनों का न देखना ही गुण जानो।

गुण-दोषयुक्त भुक्तिधर्म और गुण-दोषमुक्त मुक्ति धर्म की सीमा अति-क्रमपूर्वक किसी अति भाग्य से यदि किसी को भक्तिरूप परम धर्म लाभ हुआ तो उस परम धर्म की परमावस्था में अर्थात् परम भागवतों की दृष्टि में सर्वत्र—सर्वदोष-विवर्जित—केवल अशेष कल्याण-गुणमय श्रीभगवद्रूप[१]

---

[१], "सर्वेनिमेषा"—(तैः नाराः १ अ) इत्यादिषु परस्य ब्राह्मणः प्राकृत हेयगुणान् प्राकृत हेय देहसम्बन्धं तन्मूलकर्मवश्यता सम्बन्धञ्च प्रतिषिध्य कल्याण-गुणान् कल्याण रूपञ्च वदन्ति।" (—भगवत्–सर्वसम्बादिनी)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लक्षित होता है। तब इस परमानन्दमय के सम्पर्क से जो कुछ है, वह सभी सुन्दर, सुखमय छोड़कर कहीं भी किसी दोष का लेशाभासमात्र भी लक्षित नहीं होता। यहाँ तक कि उस समय दोष से परिपूर्ण प्राकृत विश्व-प्रपञ्च का सभी कुछ भक्त की भक्ति विभावित इन्द्रिय के सामने पूर्ण-सुख-स्वरूप में अनुभूत होता है। "विश्वं पूर्णं सुखायते—"। (श्री चैः चन्द्रामृत ।६५)

तब उस अनन्त गुणाकर के गुण-सम्बन्ध के आभास से ही स्थावर जङ्गमात्मक निखिल भुवन सुन्दर और सुखमय भगवद्भाव से ही भरा हुआ सा जान पड़ता है और सब शक्ति में शक्तिमान रूप से अपना अभीष्ट देव ही परिदृष्ट होता है। यथा,—

महा भागवत देखे स्थावर जङ्गम।
ताँहा ताँहा होय ताँर श्रीकृष्ण स्फुरण॥
स्थावर जङ्गम देखे, ना देखे तार मूर्ति।
सर्वत्र होय निज-इष्टदेव स्फूर्ति॥[1]

(श्री चैः। २।८)

प्राकृताप्राकृत निखिल विश्व—वैभव के मध्य केन्द्र में विराजित और सौन्दर्य-माधुर्यादि अनन्त गुणों के उत्सरूप में उत्सारित होकर, जो उसी उत्स-

---

अर्थ,—'सर्वे' इत्यादि श्रुति-वाक्य में परब्रह्म के प्राकृत हेयगुण समूह (अर्थात् दोष), हेय देह सम्बन्ध और तन्मूल कर्मवश्यता-सम्बन्ध प्रतिषेध करके, उनके केवल कल्याणगुण और कल्याणरूप के सम्बन्ध में कहा गया है!

[1],—सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥

(श्री भाः ११, २, ४५)

अर्थ,—जो सब भूतों में निजाभीष्ट भगवद्भाव का दर्शन करते हैं और निजाभीष्ट श्री भगवान में सब भूतों को देखते हैं,—वही होते हैं—भागवतोत्तम।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

धारा के सौन्दर्य और सुख-कणिका के मोहन स्पर्श-दान द्वारा निखिल भुवन सुन्दर और सुखमय कर देते हैं, उन्हीं परम सुख-स्वरूप की अनुभूति और उनका साक्षात्कार जब प्राप्त हो जाता है, तभी केवल उसी भक्ति विभावित शुद्ध दृष्टि में ही सब कुछ सुन्दर, मधुर और आनन्दमयरूप में ही प्रतिभात हुआ करता है। अन्धकार जहाँ है चाहे वहाँ ही क्यों न रहे किन्तु प्रज्ज्वलित मशाल जो लिये है, उसके सामने जिस प्रकार किसी अन्धकार का अस्तित्व ही अनुभव नहीं होता, उसी प्रकार शुद्धा-भक्ति के आलोक से जो हृदय प्रकाशित है और उसके फल से परमानन्द-रसमय श्री भगवत्साक्षात्कार लाभ हो गया है उन लोगों की,—उन्हीं भागवतों की भक्तिविभावित शुद्ध दृष्टि में सभी सुन्दर,—सभी मधुर—सभी अशेष कल्याण गुण[1] के अतिरिक्त कहीं भी किसी दोष का लेशाभास भी फिर परिलक्षित नहीं होता,—भक्ति इतने ऊँचे स्थान में विराजमाना है। तभी तो भक्त कवि ने गाया है—

"सौन्दर्येर उत्स मांझे,
तुमि मध्यकेन्द्र ताय,—
आपन सौन्दर्य-वारि,
छड़ातेछ विश्व गाय।
ताइ फूल मुग्ध करे मन,
ताईं चाँद सुधार आकर,
ताईं गृह आनन्द भवन,—
ताईं विश्व एत मनोहर।"[2]

इससे यह समझ में आगया कि जीव की प्राकृत अवस्था में—गुण-दोष

[1]—"समस्त कल्याण गुणात्मकोहि—" (विष्णु पुराण ६।५।८३)

अर्थ,—श्री भगवान का स्वरूप केवल समस्त कल्याण गुण-विशिष्ट है।

[2]—परमपूज्यपाद श्रीमान् सुरेन्द्रनाथ गोस्वामि-महोदयकृत 'पुष्पान्जली' से उद्धृत।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का भेद दर्शन है, मुक्ति के अधिकार में—गुण-दोष का अभेद दर्शन है, और भक्ति के उदय होने से—केवल अप्राकृत गुण दर्शन है, सब धर्मों में परम धर्म भक्ति का यही वैशिष्ट्य है !

शास्त्रोक्त विधि-निषेध का पालन ही यथाक्रम से जीव के अशेष कल्याण का प्रवर्तक और अशेष अकल्याण का निवर्तक

जीव के परम कल्याण के साधन के उद्देश्य से साक्षात् श्री भगवान के आदेश और उपदेश ही पुण्य वेद और वेदानुगत-शास्त्रों के रूप में हमारे सामने विद्यमान हैं ! भगवान का संस्थापित 'आईन' ही वह शास्त्र हैं जिनमें समस्त विधि-निषेध वर्णित हैं। अधिकारानुरूपशास्त्रोक्त विधि ही मनुष्यों के अशेष कल्याण का प्रवर्तक है और शास्त्रोक्त सब निषेध मनुष्यों के अशेष अकल्याण का निवर्तक है। इसलिये शास्त्रोक्त विधि-निषेध मान्य करके चलना ही जीव के लिये मङ्गल का विषय अर्थात् ऊर्ध्वगति को प्राप्त कराने वाला होता है, किन्तु शास्त्रादेशों का उल्लंघन करके स्वेच्छाचारी होकर जीवन व्यतीत करने के बुरे फल से ऐसे सभी जीवों को अवश्य ही अधः पतित होना होगा। तभी तो श्री भगवान ने सब जीवों को स्वेच्छाचारिता से सावधान रहने के लिये गीता में स्वयं ही श्रीमुख से उपदेश दिया है, यथा,—

यः शास्त्रविधि मुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धि मवाप्नोति न सुखं न परांगतिम्।।
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्र विधिनोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।।

(गीता ।१६।२३-२४)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसका अर्थ—जो व्यक्ति शास्त्र-विधि परित्याग करके स्वेच्छाचार में प्रवृत्त होता है वह सिद्धि, सुख या परमगति कुछ भी लाभ नहीं करसकता। अतएव इस विषय में कि क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिये शास्त्र ही तुम्हारे लिये प्रमाण है। इसलिये इस कर्मभूमि में शास्त्र-विधान की जानकारी प्राप्त करके उसके अनुसार सब कर्म करना उचित है।

जिसके सम्बंध के संयोग और वियोग से दूसरे सभी धर्म सिद्ध और असिद्ध होते हैं, वही स्वयंसिद्धा भक्ति ही जीव का परम धर्म है।

उन शास्त्रोपदिष्ट सभी धर्म-कर्मादि में परम धर्म क्या है? और दूसरे सभी धर्म-कर्मादि का मुख्य अभिप्राय क्या है?—इसका उत्तर शास्त्र ही स्पष्ट रूप में जगत के सामने घोषित करता है; यथा—

स वै पुंसां परोधर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यं प्रतिहता ययात्मा संप्रसीदति ॥
(श्री भाः १।२।६)

इसका अर्थ,—जिस धर्म से श्रीकृष्ण में फलाभि-सन्धिरहिता और विघ्न शून्या भक्ति (भगवत्कथा श्रवणादि में श्रद्धा या रति) उत्पन्न होती है, वही धर्म मानव मात्र का परम धर्म है; इससे पूर्ण रूप में आत्म-प्रसन्नता लाभ होती है।

दूसरी तरफ—जिन धर्म-कर्मादि के अनुष्ठान द्वारा श्रीकृष्ण-भक्तिरूप परम प्रयोजन सुसिद्ध नहीं होता, ऐसे धर्मों का आचरण निष्फल वृक्ष को जल से सींचने की तरह व्यर्थ प्रयास मात्र ही होता है। इस विषय में शास्त्रोक्ति यथा,—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः ।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥

(श्री भाः । १।२।८)

इसका अर्थ,—पूरे यत्न के साथ अनुष्ठित होने पर भी जिस धर्म के द्वारा श्रीकृष्ण-कथा में रति उत्पन्न न हो, तो पुरुषों का ऐसा धर्मानुष्ठान केवल निष्फल परिश्रम मात्र है ।

यहाँ तक की आलोचना का सार मर्म ।

इस तरह से यहाँ तक आलोचना द्वारा हम यही समझ सके हैं कि एक सर्वमूल—सर्वकारण, ("अनादिरादि गोविन्दः सर्व कारण कारणम् ।" ब्रह्म संहिता ।) स्वयं भगवान श्री कृष्ण ही वेद के कर्मकाण्ड में यज्ञादि शब्दों से संकेतित हुए हैं और सभी यज्ञ और यज्ञीय उपकरणादि सर्वात्मक स्वरूप वहीं हैं—उनकी शक्ति विशेष की ही परिणति होने के कारण किसी स्थान में या यज्ञादि के आवरण में उनकी ही उपासनादि परिकल्पित हुई हैं । ("तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ।" गीता ३।१५) इसी तरह देवताकाण्ड में भी इन्द्रादि शब्द से कहीं तो वह साक्षात् संकेतित हुए हैं, और कहीं इन्द्रादि समस्त देवता उनकी विभूति के ही विभिन्न प्रकाश होने के कारण उन्हीं देवतारूपी इन्द्रादि की उपासना में उनकी ही आराधना कल्पित हुई है; अतएव समस्त वेदों का मुख्य अभिप्राय उन्हीं एक स्वयंरूप-परतत्त्व—श्री कृष्ण और तद्विषयक प्रेम-भक्ति में ही पर्यवसित होने पर भी सकामहत साधारण जीव के किसी मङ्गल के उद्देश्य से ही वही अभिप्राय अपरोक्ष भाव में अर्थात् साक्षात्रूप में व्यक्त न होकर, सांकेतिक शब्द में अथवा अस्पष्टता के आवरण में—परोक्ष भाव में ही प्रकाश हुआ है, उस समय श्री भगवान का ऐसा ही अभिप्राय होने के कारण ("—परोक्षञ्च मम प्रियम् ।" भाः११।२१।३५) उनके ही प्रेरणा से वैदिक ऋषि लोग भी परोक्षवादी हुए हैं । इसी लिए ही कर्मकाण्ड प्रभृति में स्थूल दृष्टि से परतत्त्व या श्री भगवत्सम्बन्धीय प्रसङ्ग मात्र

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का भी कहीं उल्लेख देखा नहीं जाता किन्तु वेदरूप अस्पष्ट निःश्वास ध्वनि द्वारा जो व्यक्त नहीं होता—सभी वेदों का वही यथार्थ तात्पर्य गीतारूप साक्षात् श्री मुख की वाणी द्वारा उन्हीं श्री भगवान ने स्वयं ही विश्व में सुप्रकाश कर दिया है।

अतएव यही प्रतिपन्न हीता है कि वेद में गुह्य और सभी उपनिषत् में निगूढ़ भाव से जो छिपा हुआ हैं, (यद्वेद गुह्योपनिषत्सु गूढ़म्—"। श्वेताश्व ५।६)—वह श्री भगवद्वस्तु और श्री भागवतधर्म और उनकी ही परमावस्था, श्री कृष्ण और तद्विषयक'प्रेम धर्म' ही हैं जिनमें ही सब वेदों का मुख्य प्रयोजन समाप्त तो हुआ है, किन्तु परोक्षवाद में आवृत और अनेक स्थान में हेयाली भाषा में लिपिवद्ध रहने से, स्थूल दृष्टि में केवल उनका वाह्य अर्थ देखकर उस विषय की यथार्थता की उपलब्धि नहीं होती।

धेनु (दुधार गाय) की दृष्टान्त।

सभी गायों में जिस प्रकार दूध छिपा रहने पर भी, और उसमें ही सब गायों की पूर्ण सार्थकता सम्पादित होने पर भी दूध के विषय में जो लोग नहीं जानते उनकी वाह्य दृष्टि में जैसे उनसे निकला हुआ गोवर और गो-मूत्र के अतिरिक्त दूध की सत्ता की अनुभूति नहीं होती; गोमय आदि की भी पवित्रता और कथञ्चित् सार्थकता होने पर भी, जैसे गायों का मुख्य प्रयोजन या परम सार्थकता दूध से ही साधित होती है, 'उसी तरह वेदोक्त कर्म और देवता काण्ड का केवल वाह्यार्थ देखकर उसमें स्वर्गादि सुख-भोग के निमित्त विविध याग-यज्ञादि की व्यवस्था और इन्द्रादि विभिन्न देवताओं की उपासना और उस उद्देश्य से निवेदित 'सोम' नामक लता विशेष की मादकता शक्ति सम्पन्न रसपान प्रभृति की बात के अतिरिक्त स्थूल दृष्टि से यह बिल्कुल ही अनुभव नहीं होता कि समस्त वेदों का मुख्य अभिप्राय—श्री भगवान और भागवत धर्म में या और भी सुस्पष्ट भाषा में—स्वयं भगवान और तद्विषयक प्रेम-धर्म में ही पर्यवसित है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गोपाल-नन्दन—श्रीकृष्ण ही सर्वोत्तम—सुनिपुण दोहन कर्ता। उपनिषत्‌रूप गाभी-निःसारित वही दूध धारा ही श्रीगीतामृत।

फिर सब गायों की परम सार्थकता जिससे है वही अन्तर्निहित दूध की धारा जिस प्रकार किसी सुनिपुण दूध दोहन करने वाला ही पूर्णरूप से दोहन पूर्वक उसे लोगों के ग्रहणोपयोगी करने में समर्थ होता है, उसी तरह सभी वेद जिनके निःश्वासरूप में कथित हुए हैं,—उन्हीं साक्षात् स्वयं भगवान गोपेन्द्र-नन्दन श्रीकृष्ण ही ने वेदोपनिषत्‌रूप सभी धेनु को दोहन करके, गीतामृतरूप सुव्यक्त और सुमिष्ट दूध धारा से जगत को प्लावित (डुबा) करके दुर्ज्ञेय वेदार्थ को सुस्पष्ट और साधारण लोगों के ग्रहणोपयोगी कर दिया है, यह बात उसी महती गीता के उपक्रमभाग (भूमिका) से ही विदित हो जाती है; यथा,—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

इसका अर्थ,—सब उपनिषत् गाय की तरह हैं; उसके दोहने वाले हैं,—गोपालनन्दन श्रीकृष्ण; पार्थ—बछड़ा की तरह हैं, सुधिगण उसके भोक्ता हैं और महत् गीतामृत ही वही दूध है; इसलिए दुर्ज्ञेय वेद का सुस्पष्ट सारार्थ गीता रूप में ही प्रकाशित है, यह बात उसी गीता से ही जानी जाती है।

श्री गीता ही अव्यक्त और निगूढ़ निगम-तात्पर्य का सुव्यक्त सारार्थ। समस्त गीता का भक्ति-परता।

सूक्ष्म दृष्टि सम्पन्न वेदविद् महा-मनीषियों के निर्देश से यह बात हम लोग अति सुस्पष्ट रूप से जान सकते हैं कि श्री गीता ही, अव्यक्त निखिल

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निगम-तात्पर्य का सुव्यक्त सारार्थ स्वरूप है। गीताभाष्यकारों में अनेकों ने उक्त अभिप्राय ही प्रकाश किया है। अधिक के भय से उस विषय में केवल दिग्दर्शनार्थ परम पूज्यपाद श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्त्तिपादकृत गीता-भाष्य की सूचना से कुछ अंश यहाँ उद्धृत किये जाते हैं।

" श्रीमदर्जुनं लक्ष्यीकृत्या काण्डत्रितयात्मक सर्व वेद तात्पर्यपर्यवसितार्थ रत्नालंकृतं श्री गीताशास्त्रमष्टादशाध्यायमन्तर्भूताष्टादशविद्यां साक्षाद्विद्यमानीकृतमिव परमपुरुषार्थ माविर्भावयाम्वभूव। तत्राध्याना प्रथमेन षटकेन निष्कामकर्मयोगः, द्वितीयेन भक्ति योगः तृतीयेन ज्ञानयोगो दर्शतः। तत्रापि भक्तियोगस्यातिरहस्यत्वादुभय सञ्जीवकत्वेनाभ्यर्हित त्वात सर्वदुर्लभत्वाच्च मध्यवर्त्तीकृतः। कर्मज्ञानयोभक्ति राहित्येन वैयर्थात् ते द्वे भक्तिमिश्रे एव सम्मतिकृते। भक्तिस्तु द्विविधा,—केवला, प्रधानी भूताच। तत्राद्या स्वतः एव परम प्रबला। ते द्वे विनैव विशुद्ध प्रभावती अकिंचना, अनन्यादि शब्द वाच्या। द्वितीयातु कर्मज्ञानमिश्रेति।"

उक्त भाष्यतात्पर्य,—स्वयं भगवान श्री कृष्ण चन्द्र ने, प्रिय सखा श्रीमत् अर्जुन को लक्ष्य करके काण्डत्रितयात्मक सर्व वेद तात्पर्यपर्यवसितार्थरूप महारत्नालंकृत—अष्टादश अध्याय के अन्तर्गत—अष्टादशविद्यापरिपूरित साक्षात् विद्यमानीकृत परमपुरुषार्थ स्वरूप श्री गीताशास्त्र आविर्भूत कराया है। जिस प्रकार सब वेद कर्मकाण्ड, देवता या उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड भेद से त्रिकाण्डात्मक हैं, उसी तरह उन्हीं तीनों काण्डों का ही सारार्थ अष्टादशाध्यान्विता श्रीगीता भी तीन षटक में विभक्त है। हर षटक में ६ अध्याय हैं। उनमें से पहले षटक में प्रधानतः कर्मकाण्ड का यथार्थ तात्पर्य निष्काम-कर्मयोगरूप में, दूसरे षटक में प्रधानतः उपासना काण्ड के साथ सब वेदों का मुख्य तात्पर्य भक्तियोग-रूप में और तीसरे षटक में प्रधानतः ज्ञान-काण्ड का यथार्थ तात्पर्य ज्ञान योगरूप में प्रदर्शित हुआ है। (अष्टाङ्ग योग, ज्ञान योग के ही अन्तर्भुक्त है।) 'योग' का अर्थ है—परमात्मा या परमेश्वर के साथ जीवात्मा के संयोग का उपाय या कौशल। इन तीनों योगों में भक्ति योग

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अतिशय गुह्यत्व और कर्म और ज्ञान योग की जीवन दाता होने के कारण सर्वातिशय श्रेष्ठ और सुदुर्लभ है, इसलिए सम्पुटस्थित महारत्न की तरह गीता के मध्यवर्ती ६ अध्यायों में सन्निवेशित किया गया है। कर्म और ज्ञान, भक्ति या भगवत्सम्बन्ध वर्जित होने से व्यर्थता में पर्यवसित होते हैं; इसी कारण से भक्ति के साथ मिश्रित करके उनके साधन का विधान उपदिष्ट हुआ है। भक्ति के मिश्रित होने से वह गौण भक्तित्व प्राप्त होकर यथोपयुक्त फलप्रद हो जाते हैं। भक्ति का सम्बन्ध छोड़कर जीव को किसी प्रकार श्रेय-लाभ की सम्भावना नहीं है।

'केवला' और 'प्रधानीभूता' भक्ति ही भक्ति योग के अन्तर्भुक्त।

यह भक्ति फिर दो प्रकार की हैं,—केवला और प्रधानीभूता। उनमें से पहली स्वतः ही परम प्रबला अर्थात् स्वतन्त्रा है। कर्म और ज्ञान की सहायता बिना स्वयं ही विशुद्ध प्रभावती है। इस विशुद्धा भक्ति को ही अकिञ्चना, अनन्या प्रभृति नाम से निर्देश करते हैं। यही निर्गुणा या मुख्या भक्ति है। श्री भगवत् चरण में निष्काम प्रेम सेवा ही उसका मुख्य फल है। दूसरी अर्थात् प्रधानी भूता भक्ति ही कर्ममिश्रा और ज्ञानमिश्रादि नामों से कथित होती है।

अन्तर्निहित प्राणधारा की तरह भक्ति ही समस्त सिद्धि की जीवन-दायिनी।

अतएव इससे यह समझ में आता है कि एकमात्र शुद्धा भक्ति ही सब वेदों का मुख्य-तात्पर्य है। अन्तर्निहित प्राणधारा की तरह, उपासना काण्ड के सहित सब वेदों के अन्दर में गुप्त भाव से अवस्थान करके, सभी गौण पुरुषार्थ को संजीवित करती है और परम-स्वतन्त्ररुप आत्म महिमा में आप ही चमकती है। जीवनदायिनी-शक्ति की तरह, यह भक्ति ही सर्वमध्यस्थरूप में अवस्थान करके, अपने सम्बन्ध और संयोग द्वारा एक तरफ कर्मयोग को और दूसरी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तरफ ज्ञान-योग को नियंत्रित करती है और अपना गौण फलरूप सिद्धि दान करती है, किन्तु वाह्य दृष्टि में आत्म प्रकाश नहीं करती; जीव का वही सर्व वेद गुह्य मुख्य पुरुषार्थ या परम प्रयोजन रूपा शुद्धा भक्ति, गीता में भक्ति योग प्रधान मध्य षटक में मणिहार की मध्यमणि की तरह ही चमकती हुई समस्त वेदार्थ को आलोकित करती है[1]।

यह स्वतन्त्रा, केवला या शुद्धा भक्ति ही वेद निर्देश्य मुख्य प्रयोजन है। इसमें ही समस्त वेदविधि पर्यवसित हैं।

कर्म ज्ञानादि का भक्ति की मुखापेक्षिता।

शुद्धा भक्ति के विषय में श्रद्धा लाभ का सौभाग्य उदय न होने तक अगत्या कर्म-ज्ञानादि की व्यवस्था है और उसमें भी फिर भक्ति की सहायता और संमिश्रण का प्रयोजन है[2]।

श्री चरितामृत में भी उक्त हुआ है,—

---

[1]—गीता की भक्ति व्याख्या की विस्तारित आलोचना,—श्री मद्विश्वनाथ चक्रवर्त्तिपादकृत 'सारार्थ वर्षिनी' नामक गीता की टीका में देखना चाहिये। 'ज्ञान' शब्द से गीता में बहुत जगह भक्ति का निर्देश है। (६।१ टीका देखना चाहिये।)

[2]—तपस्विनो दानपरा यशस्विनो मनस्विनो मन्त्र विदः सुमङ्गलाः।
क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं तस्मै सुभद्र श्रवसे नमो नमः॥ (भाः २।४।१७)

अर्थ,—(श्रीकृष्ण को लक्ष्य करके ब्रह्मा की उक्ति),—तपस्विगण, दानशीलगण, यशस्विगण, मनस्विगण, मन्त्र विद्गण और सदाचारिगण जिन भगवान को अपनी तपस्यादि अर्पण न करने से मङ्गल लाभ में समर्थ नहीं होते। उन्हीं सुमङ्गल यशस्वी श्री भगवान को बारम्बार नमस्कार है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"कृष्ण भक्ति होय—अभिधेय-प्रधान।
भक्ति मुखनिरीक्षक—कर्म-योग-ज्ञान॥
एइ सब साधनेर अति तुच्छ फल।
कृष्ण भक्ति बिने ताहादिते नारे बल॥
केवल-ज्ञान मुक्तिदिते नारे भक्ति-विने।
कृष्णोन्मुखे सेइ मुक्ति होय विना ज्ञाने॥
(श्री चैः।२।२२)

ज्ञान का फल मोक्ष-लाभ भक्ति की सहायता से ही सिद्ध होता है;—यह बात ज्ञानिगुरु आचार्य श्री शंकर ने भी स्वयं स्वीकार किया है;—यह किसी और का कथन नहीं है।

"मोक्षकारण सामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।"
(विवेक-चूड़ामणि)

अर्थात्,—मोक्ष प्राप्ति के सभी कारणों में भक्ति ही है गरीयसी अर्थात् अतिशय गौरवान्विता या सर्वश्रेष्ठा।

इससे यही निश्चय होता है कि परमेश्वर की निःश्वास ध्वनि स्वरूप वेद में,—परोक्षवाद के अस्पष्टता के मध्य में जो मुख्य अभिप्राय निगूढ़ भाव से छिपा है,—समस्त वेद के उसी गुह्य तात्पर्य का सुव्यक्त सारार्थ है—श्रीमद्-भगवद्गीता, जो स्वयं उन्हीं श्री भगवान की ही साक्षात् श्रीमुख की वाणी है; ("योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्।"—गीता।१८।७५) इस लिये वेद का यथार्थ अभिप्राय श्री भगवद्गीता से जैसा सुस्पष्ठ रूप में विदित होने की सम्भावना रहती है, वैसा साक्षात् वेद से नहीं।

समस्त गीता का निष्पीड़ित (निचोड़ा हुआ) सार मर्म-कथा।

उसी समग्र गीता का निष्पीड़ित सारमर्म यह है कि,—

(१) कर्म, ज्ञान, योग, यज्ञ, दान, तप, त्याग, व्रत, उपासना प्रभृति जो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कुछ धर्म-कर्म का अनुष्ठान है, उन सब का मुख्य अभिप्राय श्रीकृष्ण में ही पर्यवसित होने के कारण, वह जब श्रीकृष्ण-भक्ति संबंध युक्त होकर अनुष्ठित होते हैं, तभी उन साधनों द्वारा यथोपयुक्त फल प्राप्त हो सकता है।

(२) वह सभी यदि भक्ति-संबंध वियुक्त होकर अनुष्टित होते हैं, तो वह शून्यगर्भ सभी साधन व्यर्थता को ही वरण करते है।

(३) और यदि उन सब धर्म-कर्मादि को छोड़कर ऐकान्तिक भाव से श्रीकृष्ण के ही शरणागत होकर, केवल भक्तियोग का अनुशीलन किया जाय, तो फिर किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं रह जाती, और उसके द्वारा ही सर्वानर्थ निवृत्ति के साथ-साथ जीव की परमपुरुषार्थ-प्राप्ति तक सिद्ध हो जाती है।

बाह्य दृष्टि में यज्ञादि कर्मकाण्ड के साथ भक्ति का संयोग और संमिश्रण परिलक्षित नहीं होता।

अब एक दूसरा विवेच्य विषय यह है कि, जब रजस्तमोगुण-परिपूर्ण मनुष्यों की श्रद्धा या अधिकारानुरूप सकाम याग यज्ञादि कर्मों में बाह्यतः भगवत्संबंधीय किसी बात का उल्लेख न रहने से, परोक्षवादावृत वेद के बाह्यार्थ से उन सब स्थानों में भक्ति या भगवत्विषय की लेशमात्र उपलब्धि करने की कोई भी संभावना देखी नहीं जाती, तब उन्हीं सब यज्ञादि कर्मों के साथ भगवत्संबंध का संयोग किस प्रकार से संघटित होकर, उनकी मिश्रा भक्तित्व सिद्ध हो सकती है ?

वेदोक्त यज्ञ-कर्मादि के प्रधान ऋत्विक-'ब्रह्मा' द्वारा सुकौशल से यज्ञादि के साथ भगवत् सम्बन्ध की संयोग व्यवस्था।

ऐसे संशय के सामाधान के लिये यहाँ यह बताना उचित है कि— वेदोक्त यज्ञादि के अनुष्टान में अध्वर्य्यु, होता, उद्गाता और ब्रह्मा,— प्रधानतः यह चार ऋत्विक की आवश्यकता होती है। उनमें से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'ब्रह्मा' नामक ऋत्विक को हीसर्व प्रधान और ब्रह्मविद्या में विशेष पारदर्शी होना आवश्यक होता है। (छान्दो०।४।१७।९-१० देखना चाहिये) वेद के स्थूल और निगूढ़ दोनों अर्थों के विषय में उसकी सम्यक अभिज्ञता होना प्रयोजनीय है। दूसरे ऋत्विकों को यज्ञ संबंधीय विभिन्न कार्यों में नियुक्त करके, ब्रह्मा को ही उनके कार्यादि की देख भाल और किसी भी दोष होने से उसकी शुद्धि सम्पादनादि करना होता है और विशेष भाव से यज्ञ के तात्पर्यादि और उसके साथ-साथ परम देवता—परमेश्वर के सम्बन्धादि के विषय में यजमान के अधिकार अनुरूप ऐसे सुकौशल से उसे उपदेश करना होता है कि जिससे उस सकाम यज्ञकर्ता की यज्ञ विषयक निष्ठा विचलित न हो, किन्तु परोक्ष भाव से परमेश्वर के ही उद्देश्य में यज्ञफल अर्पणादि द्वारा उसके साथ यथोपयुक्त भगवत्सम्बन्ध का या भक्ति का संयोग हो जाता है और इस रूप में वेदविहित उन सब कर्मादि की भी परोक्ष भाव से गौणी भक्तित्व सिद्धहो जाती है।

वेद विहित समस्त अनुष्ठान ही ब्रह्म-वाचक प्रणव के उच्चारण से अनुष्ठित होने की व्यवस्था।

निर्विशेष प्रणव और सविशेष भगवन्नाम को अभिन्नता।

विशेषतः श्रुति से यह भी स्पष्टतः जाना जाता है कि परमेश्वर या परब्रह्म वाचक 'प्रणव' अर्थात् ॐकार उच्चारण करके ही त्रयी विद्या अर्थात् वेदत्रय विहित समस्त अनुष्टानादि प्रवर्तित (आरंभ) हुए हैं, ("तेनेयं त्रयीविद्यावर्तते, ॐमित्या श्रावयत्य" इत्यादि। छान्दो १।१।१०) यज्ञादि कार्य में ॐकार—यह अक्षर उच्चारण पूर्वक आश्रावण करना होता है, 'ॐ' उच्चारण करके ही स्तवन करना होता है, 'ॐ' उच्चारण से ही उद्गान करना होता है, यहाँ तक कि 'अनुज्ञाक्षर' (छान्दो०।१।१।८) अर्थात् निखिल कर्म के अनुमति ज्ञापक अक्षर रूप में भी 'ॐ'कार उच्चारण सर्वत्र ही विहित हुआ है।

इसलिये अब आसानी से यह बात समझ में आ सकेगी कि जब प्रण-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वोच्चारण छोड़कर वेद विहित कोई कर्म ही अनुष्ठित नहीं होता, और जब ब्रह्म और तद्वाचक प्रणव अभेदतत्त्व हैं, "ॐ मिति ब्रह्म" (तैत्ति०।१।७) अर्थात् 'ॐ' ब्रह्म है,—और जब परतत्त्व या परमेश्वर विषयक वाच्य और वाचक या नामी और नाम अभिन्न तत्त्व ही कहकर सब शास्त्रों में निरुपित हुए हैं,[१] तब प्रणव या प्रणवोपलक्षित परमेश्वर के नाम के संयोग से ही नामी का सम्बन्ध जुड़ जाता है और इस रूप में वेदविहित निखिल कर्मादि भक्तित्व को प्राप्त होकर ही, यथोपयुक्त शुद्ध और सिद्धिप्रद हो जाते हैं।

अस्पष्ट वेदोक्त यज्ञादि कर्मों के वैगुण्यादि (त्रुटिादि) दोष निवारणार्थ प्रणवोच्चारण का सुस्पष्ट अर्थ—श्री भागवत में प्रकाश। वह है—सर्वश्रेष्ठ भक्त्यज्ञ श्रीनाम संकीर्तन की ही व्यवस्था।

और भी देखा जाता है कि यज्ञादि के अनुष्ठान में होता द्वारा अशुद्ध मन्त्रोच्चाणादि से उस कर्म में असम्पूर्णता या वैगुण्यादि दोष हो जाने से, उसकी परिशुद्धि के लिये उन स्थलों में भी प्रणवोच्चारण का ही विधान विहित हुआ है। अथ खलु य उद्‌गीथः स प्रणवः य प्रणवः स उद्‌गीथ इति होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्‌गीत मनुसमाहरतीत्यनुसमाहर-तीति।"

(छान्दो० १।५।५)

अर्थात्—जो उद्‌गीथ है, प्रणव भी वही है; और जो प्रणव है, वही उद्‌गीथ है। इस तरह प्रणव और उद्‌गीथ की अभिन्नता चिन्ता करना चाहिये। होता द्वारा मन्त्रोच्चारणादि कर्म में यदि 'दुरुद्‌गीत' अर्थात् अशुद्ध उच्चारणादि के कारण दोष हो जाते हैं, तो उद्‌गीथ अर्थात् ॐकार उच्चारण

---

[१]-- ग्रन्थकारकृत "श्री नामचिन्तामणि" ग्रन्थ का प्रथम किरण, चतुर्थ उल्लास देखना चाहिये।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्वारा वह सभी दोष मिट जाते हैं, अर्थात् उनकी विशुद्धि सम्पादित हो जाती है। इस समाधान या व्यवस्था को दृढ़निश्चय करने के निमित्त 'अनुसमाहरति' इस पद की द्विरुक्ति की गई है।

यहाँ उद्‌गीथ का अर्थ प्रणव या ॐकार अथवा प्रणवोपलक्षित श्री भगवन्नाम भी समझना चाहिये। प्रणव जैसे ब्रह्मात्मक अर्थात् वाच्य ब्रह्म से अभिन्न हैं ("ॐमिति ब्रह्म"। तैत्ति० ।१८)—भगवन्नाम भी वैसे ही भगवदात्मक अर्थात् भगवान से अभिन्न तत्त्व है; ("अभिन्नत्वान्नामनामिनोः।"—पाद्मे।) 'ब्रह्म' जैसे सविशेष और परिपूर्ण श्री भगवत्-तत्त्व का ही निर्विशेष प्रकाश है, तद्वाचक प्रणव भी वैसे ही सविशेष और परिपूर्ण श्रीकृष्णादि सभी भगवन्नाम का निर्विशेष प्रकाश है। प्रकाश भेद से भिन्न होने पर भी, 'प्रणव' और 'श्रीनाम' अभिन्न तत्त्व ही हैं,—अस्पष्ट होने पर भी उक्त श्रुति का यह अभिप्राय श्री भागवत में सुस्पष्ट अभिव्यक्त देखा जाता है;—

मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देश कालार्हं वस्तुतः।
सर्वं करोति निश्छिद्रं नाम संकीर्तनं तव॥

(श्री भा: ८/२३/१६)

इसका अर्थ,—मन्त्र में स्वरभ्रंशादि द्वारा, तन्त्र में क्रमविपर्यादि द्वारा और देश, काल, पात्र और वस्तु में अशौचादि और अवैध दक्षिणा प्रभृति द्वारा जो छिद्र या दोष हो जाते हैं, (हे हरे!) आपके नाम संकीर्तन से वह सब निर्दोष हो जाते हैं।

(श्रीमत् सनातन गोस्वामि-चरणकृत टीका का तात्पर्य। हरिभक्ति विलास ।११)

अतः यह बात समझ में आ जाती है कि सभी वेदोक्तकर्मकाण्ड का भी मुख्य अभिप्राय या अन्तर्दृष्टि श्री भगवान में या भागवत धर्म में ही सूक्ष्म या निगूढ़ भाव से प्रसारित है, इसलिये वह स्थूल दृष्टि का ग्राह्य विषय न होने पर भी, वैदिक प्रत्येक अनुष्ठान के साथ 'प्रणव' या तदोपलक्षित भक्ति का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रधान अङ्ग अर्थात् 'अङ्गी' स्वरूप श्रीनाम के थोड़ा बहुत संयोग-स्थापन के रहस्य से भी उक्त निगूढ़ अभिप्राय अनेक अंश में सुस्पष्ट हो जाता है !

वेदोक्त 'यज्ञ' और यज्ञानुष्ठानादि का निगूढ़ अर्थ ही है— श्री कृष्ण और श्रीकृष्णानुशीलन रूपा भक्ति ।

यह बात पहले नाना प्रकार से प्रदर्शित हो चुकी है कि श्रीकृष्ण और श्रीकृष्ण भक्ति ही, वेदादि निखिल शास्त्र विहित धर्म-कर्म का मुख्य अभिप्राय होने पर भी, वह परोक्षवादादि द्वारा आच्छादित है ।

तभी तो स्थूल-दृष्टि में कर्मकाण्ड यज्ञमय के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं जान पड़ता । वेदोक्त उन सभी कर्म या धर्म की वेद-गोप्य निगूढ़ मर्म कथा, एक मात्र वही वेदमय पुरुष—श्री भगवान ही भली प्रकार से जानते हैं और उनकी कृपा से उनके भक्तों की सूक्ष्म दृष्टि के सामने उसका प्रकाश हो जाता है ।

('वेदेषु दुर्लभम दुर्लभमात्म भक्तौ'-ब्रह्म संहिता ।) इसके अविरिक्त स्थूल बाह्य-दृष्टि से उसके ग्राह्य होने का कोई भी उपाय नहीं है । इस विषय में दृष्टान्त-स्वरूप वेदोक्त 'यज्ञ' शब्द के सम्बन्ध में गीता का केवल एक श्लोक नीचे उद्धृत किया जाता है । यथा,—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म बन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥
(३,६)

इसका अर्थ,—यज्ञ के लिये कर्मों को छोड़कर दूसरे कर्मों द्वारा मनुष्यों को कर्म-बन्धन होता है । अतएव हे अर्जुन ! तुम निष्काम होकर यज्ञ के लिये कर्मों का अनुष्ठान करो !

उक्त श्लोक में 'यज्ञ' शब्द के यथाश्रुत अर्थ से यह उपलब्धि होती है कि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वेदोक्त यज्ञ के निमित्त जो सब कर्म अनुष्ठित होते हैं, उनके अतिरिक्त दूसरे सभी कर्मों द्वारा जीव को कर्म बन्धन होता है, अतएव निष्काम भाव से यज्ञानुष्ठान करना सब का कर्त्तव्य है।

किन्तु परोक्षवाद में आच्छादित और दुर्बोध्य वेद के इस सांकेतिक 'यज्ञ' शब्द का निगूढ़ अर्थ और अभिप्राय श्रीभगवत्कृपा से परम भागवतों की सूक्ष्म दृष्टि के सामने उद्घाटित होते देखा जाता है। उन लोगों ने 'यज्ञ' शब्द का निगूढ़ अर्थ "श्री विष्णु"[1] अर्थात् श्री भगवान या श्री कृष्ण उपलब्धि किया है। उक्त श्लोक के निम्नोक्त टीका से यह सुस्पष्टरूप से समझ में आ सकेगा!

"सांख्यास्तु सर्वमपि कर्म्मबन्धकत्वान्न कार्य मित्याहुस्तन्निराकुर्वन्नाह—यज्ञार्थादिति। यज्ञः विष्णुः—यज्ञोः वै विष्णुः" इति श्रुतेः तदाराधानार्थात् कर्मनोऽन्यत्र तदेकं विना लोकोऽयं कर्मबन्धनः कर्मभिर्बध्यते, न त्वीश्वराराधनार्थेन कर्म्मणा। अदस्तदर्थं विष्णु प्रीत्यर्थं मुक्त संगो निष्कामः सन् कर्म सम्यगाचर॥—(श्री स्वामिपाद)

अर्थात्—सांख्यवादी कहते हैं कि जीव के सभी कर्म संसार बन्धन के कारण हैं; इसलिये कर्म करना अनुचित है। इस मत को खण्डन करते हुए

---

[1]—सर्वान्तर्यामी और सर्वव्यापक परमात्मा के श्रीकृष्ण ही परमावस्था हैं। वही सर्वान्तर्यामी और सर्वव्यापक पुरुष ही 'विष्णु' नाम से शास्त्र में कीर्तित हुए हैं। इसलिये विष्णु श्रीकृष्ण ही हैं, इस विषय में शास्त्र प्रमाण यथा,—दीपार्चिरेव हि दशान्तरम—भ्युपेत्य दीपायते विवृतहेतु समान धर्मा। यस्तादृगेव हि च विष्णुतया विभाति गोविन्द मादिपुरुषं तमहं भजामि॥ (ब्रह्मसंहिता। ५।४६)

अर्थ— एक दीपशिखा दूसरे दीप को जलाकर जैसे उसके तुल्य ही दूसरे दीपरूप में प्रज्वलित होती है, उसी तरह जो विष्णु रुप में विभावित हैं, उन्हीं आदि पुरुष गोविन्द का मैं भजन करता हूँ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कहते हैं,—'यज्ञार्थात्' इत्यादि। यज्ञ = विष्णु। श्रुति कहती है "यज्ञो वै विष्णुः"। अर्थात् 'यज्ञ' शब्द से विष्णु ही निर्देश्य होते हैं। अतएव विष्णु की अर्थात् श्रीभगवान की आराधना के निमित्त ही सब कर्म विहित हुए हैं। नहीं तो एक मात्र उनकी आराधना छोड़कर, दूसरे कर्मों से मनुष्य कर्म-बन्धन में आबद्ध होता है। किन्तु परमेश्वर की आराधना के लिये या तदर्पित कर्म से बन्धन नही होता।[१] अतएव विष्णु की प्रीति के निमित्त या मुक्त संग अर्थात निष्काम होकर सम्यकरूप से कर्माचरण करना चाहिये।

(श्री चक्रवर्त्तिपाद और श्री बल्देव विद्या भूषणपाद प्रभृति परम भागवतों द्वारा उक्त श्लोक का एक ही अभिप्राय व्यक्त हुआ है। उनका लिखा टीका देखना चाहिये।)

अब वेद के विशदार्थ श्री भागवत में श्री भगवान की निजोक्ति से भी हम उक्त 'यज्ञ' शब्द का सुस्पष्ट अर्थ जान सकेंगे। जिससे और श्रेष्ठ तर कोई प्रमाण नहीं हो सकता। श्री भगवान ने स्वयं ही यज्ञ का अर्थ श्री उद्धव को बताया है; यथा,—

---

[१]—आमयो यश्च भूतानाँ जायते येन सुव्रत।
तदेव ह्यामय द्रव्यं न पुनाति चिकित्सितम्॥
एवं नृणां क्रिया योगाः सर्वे संसृति हेतवः।
त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पितः परे॥
(भाः १।५।३३-३४)

अर्थ—हे सुव्रत! जिन गुरुपाक घृतादि द्रव्यों के सेवन से लोगों में रोग उत्पन्न हो जाते हैं, वही रोगकर द्रव्य ही औषधद्वारा मिश्रित होकर संस्कृत होने से, फिर क्या वही उस रोग से मुक्त नहीं करते? अर्थात् अवश्य ही कर देते हैं, उसी तरह मनुष्य के सब कर्म बन्धन के हेतु होने पर भी, वही सब कर्म परमेश्वर को अर्पित होकर अनुष्ठित होने से, फिर कर्म-बन्धन से मुक्ति के निमित्त हो जाते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"यज्ञोऽहं भगवत्तमः। (श्री भाः ११।१६।३८)

अर्थात् स्वयं भगवद्रूप श्री कृष्णाख्य यह मैं ही हूँ 'यज्ञ'।

इसके टीका में श्री मज्जीवगोस्वामिपाद ने लिखा है,—"यद्वा, भगवत्तमः स्वयं भगवद्रूपः श्रीकृष्णाख्योऽहमेव यज्ञः। मज् ज्ञानेनैव सर्व यज्ञफल प्राप्तेः,—

सर्वे वेदाः सर्वविद्याः सशास्त्राः सर्वे यज्ञाः सर्व इज्यश्च कृष्णः।
विदु कृष्णं ब्राह्मणास्तत्त्वतो ये तेषां राजन् सर्वयज्ञा समाप्ता; ।।'

इति—महाभारतोक्तः।"—(क्रम-सन्दर्भः ।११।१६।३८)

इसका अर्थ,—भगवत्तमः अर्थात् स्वयं भगवद्रूप श्रीकृष्णाख्य यह मैं ही 'यज्ञ' हूँ। मुझ को जान लेने से ही सब यज्ञों का फल प्राप्त हो जाता है। तभी तो महाभारत में भी उक्त हुआ है,—'हे राजन्, सर्व वेद, सर्व विद्या' सशास्त्र सर्व यज्ञ और सर्वाराधना श्री कृष्ण ही हैं, जो ब्राह्मण लोग तत्त्वतः इस प्रकार से श्री कृष्ण को जान लेते हैं,—उनका ही सर्व यज्ञ सुसमाप्त हुआ समझना चाहिये।

इसलिए उक्त यज्ञ का प्रकृष्ट तात्पर्य यह है कि,—

(१) 'यज्ञार्थात्'—अर्थात् श्रीकृष्ण की प्रीति के निमित्त तदनुशीलन रूप कर्म अर्थात् शुद्धा भक्ति द्वारा सभी कर्म-बन्धनों से छूटकर, जीव परमपदरूप परमानन्द प्राप्त करता है। इसलिये 'यज्ञ'-प्रधान समस्त कर्मकाण्ड का आच्छादित और निगूढ़ अर्थ ही है—केवल श्रीकृष्ण और तत्‌विषया भक्ति।

(२) उसकी अनुपलब्धि की अवस्था में, यदि इसका अर्थ अग्निष्टोमादि यज्ञ ही ग्रहण करके, उसी याग-यज्ञादि का अनुष्ठान किया जाता है, तो श्रीकृष्ण या श्रीकृष्ण भक्ति का संयोग या सम्बन्ध युक्त होकर निष्काम भाव से अनुष्ठित होने से उक्त यज्ञादि कर्म यथोपयुक्त सिद्धिप्रद होते हैं। फिर यह भी समझ लेना चाहिये कि भक्ति-सम्बंध की अल्पता या अधिकता के अनुसार ही उक्त धर्म-कर्मादि के फल का तारतम्य होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(३) श्रीकृष्ण या श्रीकृष्ण भक्ति का सम्पर्क वियुक्त होकर अनुष्ठित होने से, शास्त्र विहित कोई कर्म या कोई धर्म भी सिद्ध अर्थात् सुफलप्रद नहीं होता ।

(४) दूसरे किसी भी कर्म या धर्मादि के सम्बन्ध की अपेक्षा न करके केवल कृष्णानुशीलनरूपा शुद्धा भक्ति अपने स्वतन्त्र प्रभाव से ही, जीव की सभी अपूर्णता और सर्वाभीष्ट पूर्ण कर देती है और उसके आश्रित भक्त को परमानन्द का अधिकार प्रदान करके परम स्थिरता दान करती है। अतएव वेदादि शास्त्र विहित समस्त धर्म-कर्म का निष्पीड़ित सार (निचोड़) अर्थ जो शास्त्र द्वारा ही विज्ञापित हुआ है, यह है,

स कर्ता सर्वधर्माणां भक्तो यस्तव केशव ।
स कर्ता सर्व पापानां यो न भक्तस्तवाच्युत ।।
धर्मो भवत्य धर्मोऽपि कृतो भक्तैस्तवाच्युत ।
पापं भवति धर्मोऽपि तवाभक्तैः कृतो हरे ।

(श्री हरि भक्ति विलास धृत— ११ विः । स्कान्द वाक्य ।)

इसका अर्थ,—हे केशव ! वह व्यक्ति ही सब धर्मों का अनुष्ठाता है, जो तुम्हारा भक्त है; और हे अच्युत,[१] वह व्यक्ति ही सब पापों का अनुष्ठाता है, जो तुम में भक्ति हीन है (तुम्हारा भक्त नहीं है) । हे अच्युत,

---

[१],—"न च्युतः कथञ्चिदपि न भ्रष्टो भवति भक्तो यस्मादिति तत् सम्बोधनम्—हे अच्युतेति ।"—टीका । श्रीमत् सनातन ।

अर्थ,—जिसे प्राप्त करके भक्त उस परम पद से च्युत या किंचिन्मात्र भी भ्रष्ट नहीं होता; यही विज्ञापित करने के लिये 'हे अच्युत !' कहकर सम्बोधन किया गया है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हे हरे, ! तुम्हारे भक्तों द्वारा अनुष्ठित अधर्म भी धर्म है,[१] और तुम्हारे अभक्तों का आचरित धर्म भी अधर्म माना जाता है।

इस तरह से कर्म या धर्म संबंधीय विचार द्वारा यहीं प्रतिपन्न होता है कि—

(१) भक्ति ही जीव की परम स्थिति है, इसलिये परम धर्म है। भक्ति ही वेदादि सभी शास्त्रों का मुख्य तात्पर्य है !

(२) भक्ति ही दूसरे सभी धर्मों की प्राणस्वरूपिणी है। भक्ति-सम्बन्ध के संयोग का तारतम्य ही दूसरे सभी धर्मों के उत्कर्षापकर्ष का कारण है।

(३) भक्ति सम्बन्ध-वर्जित कोई भी धर्मादि सिद्ध नहीं होते।

(४) दूसरे सभी धर्मों का सम्बन्ध छोड़ कर एक मात्र भक्ति का आश्रय ग्रहण करने से ही, अपूर्ण जीव प्रकृष्ट पूर्णता या स्थिरता प्राप्त करके, परमानन्द प्राप्त करने में समर्थ होता है।

अतएव—

भक्ति ही जीव का परम धर्म है।

---

[१],—भक्त-महिमा की सर्वश्रेष्ठता देखाने के लिये ऐसा कहा गया है। नहीं तो, भक्तगण अधर्म का आचरण करेंगे और उसकी गिनती धर्म रूप में होगी, इस अभिप्राय से नहीं कहा गया, क्योंकि निषिद्धि पापाचार में भक्तों की कभी भी प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती, यही प्रकृष्ट भक्त का स्वभाव है ! किन्तु ऐकान्तिक भक्तगण द्वारा वर्णाश्रमादि स्वधर्म परित्यक्त होते देखकर (गीता। १८।६६), अज्ञात-वशतः यदि उसे ही 'अधर्म' समझा जाय, तो वहाँ यही समझना चाहिये कि वही सब अधर्म सब भक्तों के लिये परम धर्म हो जाते हैं। केवल यही नहीं,—ऐकान्तिक भक्तों द्वारा परित्यक्त उन्हीं सब कर्मों को सम्पादन करके धन्य होने के लिये, तीन कोटि महर्षि अलक्षित भाव से उसकी अपेक्षा में रहते हैं; यथा,—मत्कर्म कुर्वतां पुंसां त्रियालोपो भवेद्यदि। तेषां कर्म्माणि कुर्वन्ति तिस्रः कोट्यो महर्षयः ॥ (श्री हरि भक्ति विलास धृत पाद्म-वाक्य।—११ विः। श्री भागवत में "देवर्षि भूताप्त-नृणां—" एवं "स्वपाद-मूलं—" दोनो श्लोक देखना चाहिये। ११।५।४१-४२)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शुद्धि पत्र

पृष्ठ-पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ-पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३/११	अचिन्तथ	अचिन्त्य	५८/२०	सरती	करती
३/२४	तत्व	तत्त्व	६२/१६	जींवन	जीवन
४/२	स्थिति	स्थित	६३/८	समुज्ज्वल	समुज्ज्वल
६/१७	नीनों	तीनों	७४/१	भगवत्द्दर्शन	भगवद्दर्शन
७/६, ९	अत्यन्तिक	आत्यन्तिक	७४/१०	कान्देथ	कान्देय
१४/६	द्रष्टय	द्रष्टव्य	७५/३	भतिर	भीतर
२०/२	साधत	साधित	८१/१६	एकत्रित	(एकत्रित)
२४/१७	निहित	विहित	८२/१	स्वरूपता	स्वरूपतः
३०/१६	सर्वाभीप्टि	सर्वाभीप्ट	८२/३	भगवती	भागवती
३५/१,३,५	ॐ	ॐ	८३/८	में	से
३५/२२	पदोदक	पादोदक	८७/११	सयझने	समझने
४५/१५	यज्ञोपकणादि	यज्ञोपकरणादि	८९/९	काव्यूह	कायव्यूह
४८/१४	दिादर्शनार्थ	दिग्दर्शनार्थ	९०/१०	द्वार	द्वारा
५१/९	वधान	विधान	,, ,,	नकृष्ट	निकृष्ट
५१/१३	जाती	जाते	९६/९	प्रम	प्रेम
५५/११	वेशेप	विशेप	१०८/७	अपितु	अपितु
५६/९	सात्त्वादि	सत्त्वादि	११६/९	ओर	और
५६/२२	नामसः	तामसः	११६/११	—	के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अभिमत पत्रों से उद्धृत अंश निम्नलिखित हैं।

(हिन्दी अनुवाद)

(१)

प्रभुपाद श्रीमत् विनोद विहारी गोस्वामी महाराज, काव्य-व्याकरण-सांख्य-पुराण तीर्थ, भागवत-वेदान्त रत्न, कालियदह, श्री वृन्दावन।

इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार की अतुलनीय मनीषा व सुनिपुण रचना कौशल का परिचय मिलता है।

(२)

पण्डित श्रीमत् अद्वैतदास बाबा जी महाराज, श्री गोवर्द्धन।

आपकी प्रणीत 'श्री भक्तिरहस्य-कणिका' आस्वादन करके मुझे तो यह समझ में आता है कि यह 'कणिका' नहीं है,—कौस्तुभ मणि है।

(३)

श्रीमत् हरिदास बाबा जी महाराज, कालियदह, श्री वृन्दावन।

(न्याय, वैशेषिक शास्त्री; प्राच्य नव्य न्यायाचार्य; काव्य-व्याकरण-सांख्य वेदान्त-मीमांसा-तर्क तर्क-तर्क-वैष्णव दर्शन तीर्थ, विद्यारत्न।)

आपने कृपा करके श्री भक्ति रहस्य कणिका नामक अति सुमधुर अनुपम ग्रन्थ भेजा जिसे पढ़कर परितृप्त हुआ।

(४)

श्रीमत् गौरांगदास बाबाजी महान्त महाराज, श्री राधा-कुण्ड।

आपके 'श्री भक्ति रहस्य-कणिका' नामक अपूर्व ग्रन्थ को पढ़कर परम कृतार्थ हुआ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस ग्रन्थ में वेदादि विभिन्न शास्त्रों का सार मर्म भक्ति का मुख्यत्व जैसा सरल भाव से समालोचना पूर्वक प्रतिपादित हुआ है, वैसा अन्यत्र परिदृष्ट नहीं होता।

(५)

श्रीमत् प्रेमानन्द दास बाबाजी महाराज (शास्त्री) श्री राधा-कुण्ड।

इस ग्रन्थ के पढ़ने से भक्ति का निगूढ़ रहस्य अवगत हो जाता है।

(६)

प्रभुपाद श्रीमत् प्रांणकिशोर गोस्वामी, एम०-ए०, विद्याभूषण महोदय; कलकत्ता।

परमादरणीय ग्रन्थकार महोदय ने कलियुग का एक मात्र साधन व साध्य श्रीनाम रहस्य के प्रकाश में जिस भाव से विभिन्न क्रमावलम्बन से समालोचना विलसित किया है, वह साधक की भावना में नवारुणोदय है।

(७)

प्रभुपाद श्रीमद् चैतन्य चन्द्र गोस्वामी महोदय (श्री गौड़ीय वैष्णव सम्मिलनी के सभापति) श्रीवास अङ्गन; श्री नवद्वीप।

यह 'कणिका' नहीं है—ग्रन्थ महाशूर है। इस ग्रन्थ का आद्योपान्त मधुर से सुमधुर है। आपकी कृपा से शान्त लाभ किया।

(८)

प्रभुपाद श्रीमत् सीतानाथ गोस्वामी शास्त्री महोदय; श्री गिरि-धारी कुञ्ज; श्री नवद्वीप।

'श्री भक्ति रहस्य-कणिका' नामक ग्रन्थ पढ़कर परम आनन्दित व उपकृत हुआ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(६)

प्रभुपाद श्रीमत् दीनेशचन्द्र गोस्वामी भागवत शास्त्री महोदय; श्री नवद्वीप।

वर्तमान धर्म-संकट के दिनों में इस महाग्रन्थ द्वारा जीव का अशेष कल्याण साधित होगा। ग्रन्थ पढ़कर यह मन में आता है कि ग्रन्थकार ने जो कुछ लिखा है वह साक्षात् अनुभूति के विना केवल शास्त्रज्ञान या पाण्डित्य से संभव पर नहीं है।

(१०)

डाक्टर श्रीयुक्त राधागोविन्द नाथ, एम-ए डि-लिट्, विद्यावाचस्पति, भक्ति सिद्धान्त-भास्कर महोदय; कलकत्ता।

आपकी कृपा का दान 'श्री भक्ति रहस्य-कणिका' पाकर मस्तक पर धारण किया। पढ़कर विशेष उपकृत और आनन्दित हुआ। ग्रन्थ वास्तविक अति उपादेय हुआ है।

(११)

श्रीयुक्त वंकिमचन्द्र सेन, भक्तिभारती-भागीरथी महोदय (भूत पूर्व 'देश' सम्पादक) कलकत्ता।

आपका कृपा प्रदत्त ग्रन्थ शिरोधार्य करके कृतार्थ हुआ। ग्रन्थ के पढ़ने से उसके प्रत्येक पृष्ठ में परम विद्या की उपलब्धि होती है और शरीर व मन पुलकायमान हो जाता है। पुनः पुनः पढ़ने पर भी पिपासा की निवृत्ति नहीं होती।

(१२)

पंडित प्रवर श्रीयुक्त सुन्दरानन्द विद्याविनोद महोदय; खिथिं, कलकत्ता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'श्री भक्तिरहस्य-कणिका'—प्रसाद आस्वादन करके 'परम-लाभवान्' (भा० ११।५।३७) हुआ। ग्रन्थ का प्रत्येक विषय वस्तु, विचार विश्लेषण, चिन्ताशैली, सद्गति सिद्धान्त, यहाँ तक कि प्रत्येक वाक्य व शब्द एकान्त—अनुभवसिद्ध परम श्रौतभाव-रसगर्भ मौलिक प्रतिभा का प्रकृष्ट निदर्शन है।

(१३)

श्रीमत् रामेश्वर भादुरी महोदय, अध्यापक, गोपालपुर पावना।

जो लोग शास्त्रज्ञ सुपंडित, उच्च अंग्रेजी शिक्षित, जागतिक ज्ञानपिपासु साहित्यमोदी और नाना दर्शनशास्त्र-पारदर्शी हैं, वह भी यदि निरपेक्ष भाव से इस ग्रन्थ की आलोचना करेंगे, जिसमें सर्वशास्त्र मीमांसा का भगवत् कृपा लब्ध अगाध और असाधारण मनीषा का प्रकाश हुआ है, तो वह लोग मुग्ध हुए बिना न रह सकेंगे।

संवाद पत्रों व सामयिकी पत्रिकाओं की समालोचना से उद्धृत अंश निम्नलिखित हैं।

(हिन्दी अनुवाद)

उज्जीवन।

इस पुस्तक में ग्रन्थ कर्ता की ऐकान्तिक निष्ठा, प्रगाढ़ पांडित्य और कुशल रचना शैली का समावेश परिदृष्ट होता है।

युगान्तर।

इसमें जीव के परम प्रयोजन और परमाशान्ति का संधान दिया गया है। केवल संधान और गवेषणात्मक विश्लेषण ही नहीं—वास्तव वस्तु के साथ साक्षात् परिचय, वस्तु लाभ और वस्तु सिद्धि का सहजतम और परम उपाय भी सुविदित किया गया है। यह ग्रन्थ भक्ति व तत्त्वपिपासुगण का विशेष उपकार साधन करेगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

The Hindustan Standard.

The book under review is from the pen of a distinguished scholar and devout Vaishnav, who has alseady made name by his previons works. It mainly deals with the all pervading supremacy of Sri Krishna, Srimad Bhagwat, God-name, and unparalleled significance of Bhakti.

By his arguments, Citation of simple and popular examples and supporting slokas from shastras the auther has been able to dispel all suspicion to the satisfaction of devotees.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आनन्द-ग्रन्थागारम्,
रत्ननिधि, भदैनी
वाराणसी-5

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आम्रा
भरतनिधि,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi